वैदिक व्याकरण

भाषा की दृष्टि से वैदिक भाषा और लौकिक भाषा में पर्याप्त अन्तर है। वैदिक भाषा जनसाधारण की बोल चाल की भाषा थी अतः व्याकरण की दृष्टि से वह कहीं अधिक समृद्ध व लोचदार थी। जबकि लौकिक भाषा जनसाधारण की भाषा न रह कर साहित्यिक भाषा बन गई थी। साहित्यक भाषा व जनसाधरण की भाषा में सबसे बड़ा अन्तर यही होता है कि साहित्यिक भाषा व्याकरण के नियमों से जकंड़ी हुई होती है जबकि जनसाधारण की भाषा में व्याकरण के नियमों का इतना अधिक ध्यान नहीं रखा जाता। बोलते समय मुँह से जो निकल गया, निकल गया। वह व्याकरण की दृष्टि से उचित है अथवा नहीं, इस बात का इतना अधिक महत्त्व नहीं होता।

वैदिक साहित्य में कुछ रूप ऐसे प्राप्त होते हैं जो लौकिक व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध हैं परन्तु आर्ष प्रयोग होने के कारण उन्हें अशुद्ध नहीं कहा जा सकता। ऐसे रूपों को भी सिद्ध करने के लिए पाणिनि ने कुछ नियम बना दिए जो वैदिक व्याकरण के अन्तर्गत आते हैं। यह ध्यातव्य है कि ये नियम केवल उन्हीं रूपों को सिद्ध करने के लिए हैं जो वैदिक साहित्य में प्राप्त होते हैं। इनके आधार पर नए शब्दों की रचना नहीं की जा सकती। उदाहरणस्वरूप वेद में 'जनास:' देवास:' रूप प्राप्त होते हैं जो अकारान्त प्रातिपदिक, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन पुल्लिङ्ग के रूप हैं। परन्तु लौकिक भाषा में केवल जना: और देवा:' ही प्राप्त होता है। अत: 'जनास: और देवास: को भी सिद्ध करने के लिए पाणिनि ने आज्जसेरसुक्' सूत्र बना दिया जिसका तात्पर्य है कि अकारान्त प्रातिपदिक के जस् को पुल्लिङ्ग में 'असुक्' का आदेश विकल्प से हो जाता है। परन्तु यह सूत्र उन्हीं रूपों के लिए प्रयुक्त होगा जो वेद में प्राप्त होते हैं। इसके आधार पर यदि हम नए शब्दों की रचना करना चाहें तो नहीं कर सकते।

इस प्रकार वैदिक व्याकरण नियमों का वह समूह है जो वेद में प्राप्त होने वाले उन रूपों को सिद्ध करने के लिए बनाया गया है जो लौकिक व्याकरण की दृष्टि से गलत हैं, परन्तु आर्ष प्रयोग होने के कारण उन्हें गलत नहीं कहा जा सकता। वैदिक व्याकरण के नियमों से नए रूपों की रचना नहीं की जा सकती। पाणिनि ने ऐसे सूत्रों में 'छन्दसि' का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया हैं कि ये नियम क़ेवल आर्ष वैदिक रूपों को सिद्ध करने के लिए ही हैं। यथा बहुलं छन्दसि, वा छन्दसि, छन्दस्युभयथा, शेश्छन्दसि बहुलम् इत्यादि।

लौकिक व्याकरण के सभी नियम वैदिक भाषा पर भी लागू होते ही हैं।

卐 卐 卐

सुबन्त अथवा शब्द रूप
(DECLENSION)

लौकिक संस्कृत के समान वैदिक भाषा में भी तीन लिङ्ग, तीन वचन और आठ कारक विभक्तियाँ है। लौकिक संस्कृत के सुबन्त रूपों के अतिरिक्त वैदिक भाषा में कुछ अन्य सुबन्त रूप भी मिलते हैं जिनकी व्याख्या निम्नलिखित नियमों के द्वारा की जा सकती है।

वेद में पुनर्वसु शब्द एकवचन में भी प्रयुक्त होता है जबकि लौकिक भाषा में यह केवल द्विवचन में ही प्रयुक्त होता है। इसीलिए वेद में पुनर्वसु (एकवचन) पुनर्वसू (द्विवचन) दोनों ही रूप प्राप्त होते हैं।

(छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम्)

इसी प्रकार 'विशाखा' जो लौकिक संस्कृत में द्विवचन में ही प्रयुक्त होता है वेद में एक वचन में भी प्रयुक्त होता है। जैसे— विशाखा (एकवचन) विशाखे 'द्विवचन' (**विशाखयोश्च**)।

वेद में 'शिरस्' के स्थान पर शीर्षन् का भी आदेश हो जाता है। जैसे— शीर्ष्णः जगति (**शीर्षंच्छन्दसि**)।

1. **प्रथमा द्वितीया विभक्ति**— दीर्घ प्रातिपादिक के पश्चात् यदि जस् (प्रथमा बहुवचन) हो या इ, ई, उ, ऊ, ऋ, लृ, ए, ऐ, औ औ से प्रारम्भ होने वाला प्रत्यय हो तो प्रथमा और द्वितीया विभक्तियों में विकल्प से पूर्वसवर्ण दीर्घ आदेश हो जाता है जैसे :— नारी + जस् — नारीः। वाराही + औ = वाराही। (**वा छन्दसि**) जहाँ यह सूत्र लागू नहीं होगा वहाँ लौकिक संस्कृत की तरह ही नार्यः और वाराह्यौ रूप ही बनेगें।
2. वेद में सुधी और भू प्रातिपदिक में इयङ् और उवङ् आदेश होने के अतिरिक्त यण् आदेश भी विकल्प से होता है जबकि लौकिक संस्कृत में यण् आदेश न होकर केवल इयङ् ओर उवङ् आदेश ही होते हैं। इस प्रकार वैदिक भाषा में सुधियः और सुध्यः, विभुवौ ओर विभ्वौ दोनों

ही रूप प्राप्त होते हैं। (**छन्दस्युभयथा**), परन्तु लौकिक भाषा में सुधियः और विभुवौ रूप ही प्राप्त होते हैं।

3. तनु आदि शब्दों में यण् और इयङ्, उवङ् दोनों ही आदेश होते हैं। जैसे— तनुवं, तन्वम्। परन्तु लौकिक भाषा में केवल तनुवं रूप ही प्राप्त होता है (**तन्वादीनां छन्दसि बहुलम्**)।
4. अकारान्त प्रातिपदिक के पश्चात् यदि जस् (प्रथमा वि. बहुवचन) हो तो जस् को विकल्प से असुक् का आगम हो जाता है जैसे— देवासः, जनासः इत्यादि। लौकिक भाषा में केवल देवाः और जनाः रूप ही प्राप्त होते हैं। (**आज्जसेरसुक**)।
5. 'शि' जो नपुसंकलिङ्ग में जस् (प्रथमा बहुवचन) और 'शस् (द्वितीया बहुवचन) के स्थान पर प्रयुक्त होता है, वेद में विकल्प से लुप्त हो जाता है जैसे— भुवनानि के स्थान पर भुवना, विश्वानि के स्थान पर विश्वा इत्यादि। (**शेश्छन्दसि बहुलं**)

तृतीया विभक्ति— वेद में भिस् (तृतीया बहुवचन) का ऐस् आदेश बहुल से होता है अर्थात् जहाँ होना चाहिए वहाँ नही भी होता और जहाँ नहीं होना चाहिए वहाँ हो भी जाता है। जैसे— देवेभिः और नद्यैः। देवेभिः में ऐस् आदेश होना चाहिए था परन्तु नहीं हुआ। जबकि नद्यैः में ऐस् आदेश नहीं होना चाहिए था परन्तु हो गया। (**बहुलं छन्दसि**) लौकिक भाषा में केवल देवैः और नदीभिः रूप ही प्राप्त होते हैं।

वेद में अस्थि, दधि, सक्थि और अक्षि प्रातिपदिकों के पश्चात् यदि हल से प्रारम्भ होने वाला कोई भी विभक्ति प्रत्यय आए तो अनङ् आदेश हो जाता है। जबकि लौकिक भाषा में यह आदेश तभी होता है जब तृतीया विभक्ति का अच् से प्रारम्भ होने वाला प्रत्यय आए। जैसे— वेद में अस्थिभिः के स्थान पर अस्थभिः रूप भी मिलता है। (**छन्दस्यपि दृश्यते**)।

अस्थि और अक्षि के पश्चात् हल् से प्रारम्भ होने वाला कोई भी विभक्ति प्रत्यय आए तो द्विवचन में इसका अन्तिम अक्षर 'ई' में परिवतर्तित हो जाता है जैसे— अक्षीभ्याम्। जब कि लौकिक भाषा में अक्षिभ्याम् रूप ही प्राप्त होता है। (**ई च द्विवचने**)

षष्ठी विभक्ति— वैदिक भाषा में पति शब्द अकेला भी घि संज्ञक होता है यदि वह षष्ठी विभक्ति वाले पद के साथ आए अतः वेद में क्षेत्रस्य पत्या,

क्षेत्रस्य पतिना दोनों ही रूप प्राप्त होते हैं। (षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा) परन्तु लौकिक भाषा में पति शब्द समास में ही घि संज्ञक होता है अकेला नहीं।

ऋ में समाप्त होने वाले प्रातिपदिक के पश्चात् यदि आम् (षष्ठी बहुवचन) हो तो वह विकल्प से दीर्घ हो जाता है जैसे धातृणाम् या धातृणम्।

(छन्दस्युभयथा) लौकिक संस्कृत में केवल दीर्घ रूप ही प्राप्त होता है।

वेद में श्री और ग्रमणी शब्दों के पश्चात् यदि आम् (षष्ठी बहुवचन) हो तो नुट् का आगम भी हो जाता है जैसे—श्रीणाम् ओर ग्रमणीनाम्। (श्रीग्रामण्योश्छन्दसि)

वैदिक चरण के अन्त में गो की षष्ठी विभक्ति में नुट् का आगम विकल्प से हो जाता है। यथा गोनाम्। लौकिक भाषा में केवल गवाम्, रूप ही प्राप्त होता है (गोः पदान्ते)।

सुबन्त प्रत्ययों के सामान्य रूपः—

वैदिक भाषा में सुबन्त प्रत्ययों के स्थान पर सु लुक पूर्व सवर्ण दीर्घ, आ, आत् शे, या, डा, ड्या, याच् और आल् आदेश भी होते हैं।

(सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः)

जैसे—सु—पन्स्थानः के स्थान पर पन्थाः।

लुक — व्येम्नि के स्थान पर व्योमन्।

पूर्वसवर्ण दीर्घ — धीत्या के स्थान पर धीती।

आ — यौ के स्थान पर या। उभयौ के स्थान पर उभया।

आत् — नतम् के स्थान पर नतात्।

शे — अस्मभ्यम् के स्थान पर अस्मे।

या — उरुणा के स्थान पर उरुया। धृष्णुना के स्थान पर धृष्णुया।

डा — नाभौ के स्थान पर नाभा।

ड्या — अनुष्ठया के स्थान पर अनुष्ठ्या।

याच् — साधो के स्थान पर साधुया।

आल् —वसन्ते के स्थान पर वसन्ता।

उपरिलिखित आदेशों के आतिरिक्त वेद में सुबन्तो के स्थान पर इयाच, डियाच् और ई आदेश भी होते हैं जैसे :—

इयाच्—उरुणा, के स्थान पर उर्विया।

डियाच् – सुक्षेत्रिणा के स्थान पर सुक्षेत्रिया।

ई–सरसि के स्थान् पर सरसी।

(इयाडियाजीकराणामुपसंख्यानम्)

उपरिलिखित सभी नियम वेद में प्राप्त होने वालेरूपों को ही सिद्ध करने के लिए है। इनके आधार पर नए रूपों का निर्माण नहीं किया जा सकता इन सब नियमों के अतिरिक्त लौकिक भाषा के सभी नियम वैदिक भाषा पर भी लागू होते है।

卐 卐 卐

क्त्वा
(GERUNDS)

एक वाक्य में दो अथवा अधिक धातुओं का प्रयोग होने पर यदि पहली क्रिया की समाप्ति पर बाद वाली क्रिया निर्भर हो और दोनों क्रियाओं का कर्त्ता एक ही हो तो पहली क्रिया की अभिव्यक्ति क्त्वा प्रत्यय जोड़कर की जाती है। (**समानकर्तृकयोः पूर्वकाले**) जैसे— **यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून्।**

यहाँ हन् एवम् अरिणात् दो धातुएँ हैं। दोनों का कर्ता 'यः' ही है और हनन् क्रिया निष्पन्न हो जाने पर ही अरिणात् क्रिया निष्पन्न हुई है अतः पूर्ववर्ती धातु हन् में क्त्वा का प्रयोग हुआ है।

लौकिक भाषा में इस अर्थ को प्रकट करने के लिए (क्त्वा) त्वा प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है और नञ् समास से भिन्न समास पूर्ववर्ती होने पर त्वा के स्थान पर ल्यप् (य) का प्रयोग होता है (**समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप**)।

जैसे— निषद्य, आदाय इत्यादि।

लौकिक भाषा में प्राप्त होने वाले सभी रूप वैदिक भाषा में भी प्राप्त होते हैं परन्तु कुछ रूप वैदिक भाषा में ही प्राप्त होते हैं। इनका विवेचन ही यहाँ किया जाएगा—

1. कुछ वैदिक शब्दों में ल्यप् (य) के अन्तिम अ का दीर्घ हो जाता है। जैसे— निषद्या, आवृत्या इत्यादि।
2. समास पूर्व होने पर भी वैदिक भाषा में ल्यप् (य) के स्थान पर क्त्वा (त्वा) प्रत्यय का प्रयोग भी प्राप्त होता है जैसे— परिधापयित्वा, प्रत्यर्पयित्वा इत्यादि। (**क्त्वापिच्छन्दसि**)। लौकिक भाषा में परिधाप्य तथा प्रत्यर्प्य रूप ही प्राप्त होते हैं।
3. वेद में त्वा प्रत्यय के पश्चात् यक् (य) का आगम भी हो जाता है। (**क्त्वो यक्**) जैसे— गत्वाय, दृष्ट्वाय, जगध्वाय इत्यादि।
4. वेद में त्वा के अर्थ में त्वी का प्रयोग भी होता है जैसे— गत्वी, कृत्वी, जनित्वी इत्यादि।
5. पाणिनि ने इष्ट्वीनम् को इष्ट्वा के अर्थ में निपात माना है।

(इष्ट्वीनमिति च)

6. काशिका में पीत्वीनम् को पीत्वा के अर्थ में निपात माना गया है (पीत्वीनमित्यपीष्यते)
7. पाणिनि के अनुसार यद्यपि अर्थ की दृष्टि से णमुल् (अम्) पूर्णतः क्त्वा (त्वा) के अर्थ को प्रकट नहीं करता तथापि उससे मिलते-जुलते अर्थ को अभिव्यक्त करता है जैसे—शाखां समालभ्भं रोहेत् अर्थात् शाखा का सहारा लेकर चढ़े।

卐 卐 卐

तुमुन्
(INFINITIVES)

तुमुन् (तुम्) प्रत्यय का प्रयोग 'करने के लिए' अर्थ में होता है। जब एक ही कर्त्ता को दो क्रियाएँ करनी हैं एक भविष्यत् काल में और एक वर्तमान काल में। और जब वर्तमान कालीन क्रिया भविष्य कालीन क्रिया के समीप हो तो भविष्य में की जाने वाली क्रिया में तुमुन् (तुम्) का प्रयोग होता है। (तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्)

यह तुमुन् अर्थ भाववाची शब्द के चतुर्थयन्त रूप से भी अभिव्यक्त किया जा सकता है। (भाववचनाश्च)

लौकिक भाषा में तुमुन् का प्रयोग अन्य कई स्थानों पर हो सकता है परन्तु वैदिक व्याकरण में उन्हीं शब्दों का विवेचन किया गया है जो केवल वेद में ही मिलते हैं अत: लौकिक भाषा के सूत्रों का यहाँ निर्देश नहीं किया गया है।

लौकिक संस्कृत में एक ही प्रत्यय तुमुन् का ही प्रयोग होता है। लेकिन वैदिक भाषा में तुमुन् के अर्थ में अनेक प्रत्यय हैं। इनमें से अनेक प्रत्यय ऐसे भी हैं जो प्रत्यय की दृष्टि से एक होते हुए भी स्वर की दृष्टि से भिन्न हैं।

इन तुमुन् प्रत्ययों के विषय में पाणिनि और पाश्चात्य विद्वानों में परस्पर मतभेद हैं। पाणिनि के अनुसार ये प्रत्यय तुमुन् के स्थान पर प्रयुक्त होते हैं परन्तु पाश्चात्य विद्वान इन्हें स्वतन्त्र प्रत्यय न मानकर तु (तुमुन्) प्रत्ययान्त के ही विभिन्न रूप मानते हैं जैसे— जीवितुम् में पाणिनि के अनुसार तो तुमुन् प्रत्यय का प्रयोग हुआ है परन्तु पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार यह 'तु' का ही द्वितीयानत रूप है।

पहले इन प्रत्ययों का विवेचन पाणिनि के अनुसार किया जाएगा और तत्पश्चात् पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार।

पाणिनि का मत—

1. पाणिनि के अनुसार वेद में तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में से, सेन्, असे, असेन्, क्से, कसेन् अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन् शध्यै, शध्यैन्, तवै तवेङ् और तवेन् प्रत्ययों का प्रयोग भी होता है जैसे—

से – वक्षे।

सेन् – चक्षे

क्से – जिषे, स्तुषे

कसेन् – भियसे, वृधसे।

यद्यपि प्रत्यय की दृष्टि से यह चारों समान हैं क्यों कि सबमें 'से' प्रत्यय ही है लेकिन स्वर और गुण वृद्धि की दृष्टि से इनमें भेद है जो नित् है वह आद्युदात्त होता है और जो कित् है उसमें गुण और वृद्धि नहीं होती।

असे – चरसे, जीवसे।

असेन् – अयसे, चक्षसे।

कसेन – भियसे, वृधसे

प्रत्यय की दृष्टि से ये तीनों ही समान हैं लेकिन असे और असेन् में स्वर का अन्तर है तो कसेन् में गुण नहीं होता। असेन् 'नित्' होने के कारण आद्युदात्त है।

अध्यै – चरध्यै, तरध्यै।

अध्यैन् – गमध्यै, वहध्यै।

कध्यै – इयध्यै।

कध्यैन् – श्रियध्यै।

शध्यै – मादयध्यै।

शध्यैन् – पिबध्यै।

यद्यपि ये छः प्रत्यय, प्रत्यय की दृष्टि से समान हैं तथापि कध्यैन् नित् होने के कारण आद्युदात्त है कध्यै और कध्यैन् कित् होने के कारण गुण और वृद्धि से रहित है जबकि शध्यै और शध्यैन् में सार्वधातुक होने के कारण सार्वधातुक के निमित्त होने वाले परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं जैसे–पा पिब् बन जाता है।

तवै – एतवै, पातवै, दातवै।

तवेङ् – सूतवे,

तवेन् – कर्तवे, मन्तवे इत्यादि।

यहाँ तवेङ् ङित् होने के कारण गुण ओर वृद्धि से रहित है और तवेन् नित् होने के कारण आद्युदात्त है।

(तुमर्थे सेसेनसेअसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन् तवैतवेङ्तवेनः)

2. तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में प्रयै (प्रयातुम्), रोहिष्यै (रोढुम्), अव्यथिष्यै (अव्यथितुम्), शब्द निपात से सिद्ध होते हैं। (**प्रयैरोहिष्यैअव्यथिष्यै**)
3. दृशे (द्रष्टम्), विख्ये (विख्यातुम्) शब्द भी तुमुन् के ही अर्थ में निपात है। (**दृशेविख्ये च**)
4. यदि उपपद में शक् का प्रयोग हो तो तुमुन् के ही अर्थ में णमुल् और कमुल् प्रत्यय भी होते हैं।
   जैसे— विभाजं नाशकत् और अवलुपं नाशकत्। यहाँ विभाजं का प्रयोग विभक्तुम् के अर्थ में णमुल् प्रत्यय के साथ हुआ है। और अवलुपं का प्रयोग अवलोप्तुम् के अर्थ में कमुल् प्रत्यय के साथ हुआ है। (**शकि णमुल्कमुलौ च**)
5. ईश्वर शब्द के उपपद में रहने पर वेद में तुमुन के अर्थ में तोसुन और कसुन् ये दो प्रत्यय भी प्रयुक्त होते हैं जैसे —ईश्वरो विचरितोः। ईश्वरो विलिखः।
   यहाँ विचरितोः, विचरितुम् के लिए आया है और विलिखः विलेखितुम् के लिए आया है। (**ईश्वरो तोसुन्कसुनौ**)
6. भावलक्षण में विद्यमान स्था, इण्, कृञ्, वदि, चरि, हु, तनि और जनि धातुओं के साथ तुमुन् के अर्थ में तोसुन् का प्रयोग होता है यथा— संस्थातोः, एतोः, कर्तोः, चरितोः, इत्यादि। (**भावलक्षणे स्थेण्कृञ्वदिचरिहुतनिजनिभ्यस्तोसुन्**)
7. वेद में भावलक्षण में विद्यमान सृप् और तृद् धातुओं में तुमुन् के अर्थ में कसुन् (अस्) का प्रयोग भी होता है। जैसे आतृदः, विसृपः इत्यादि (**सृपितृदोः कसुन्**)।

पाश्चात्य विद्वानों का मत—

उपर्युक्त पाणिनि के सूत्र और उदाहरणों से स्पष्ट है कि पाणिनि ने तुम, से, असे, कसुन्, आदि शब्दों को तुमर्थक माना है। परन्तु पाश्चात्य विद्वान इन्हें प्रत्यय न मानकर विधिवत् 'तु' अङ्ग के विभिन्न विभक्ति रूप मानते हैं जैसे उनके अनुसार √गम् धातु में कृदन्त प्रत्यय 'तु' जोड़कर 'गन्तु' शब्द बना और 'गन्तुम्' इसी का द्वितीया विभक्ति का रूप है 'गन्तवे' चतुर्थी विभक्ति का रूप है तो 'गन्तोः' पञ्चमी और षष्ठी विभक्ति का।

संक्षेप में, इन विद्वानों के अनुसार प्राचीन काल में इन गन्तु इत्यादि के सभी रूप रहे होंगे परन्तु क्रमशः इनके कुछ रूप ही शेष रह गए जिन्हें अब अव्यय मान लिया गया।

तुमर्थक प्रत्ययों का वर्गीकरण पाश्चात्य विद्वानों ने उपलब्ध रूपों को देखकर द्वितीयान्त, चतुर्थ्यन्त, पञ्चम्यन्त, षष्ठ्यन्त तथा सप्तम्यन्त विभक्तियों के आधार पर किया है। इनके उदष्टरण इस प्रकार है—

द्वितीयान्त— ये शब्द दो भागों में विभाजित किए जा सकते हैं :—

1. अम्— जिन शब्दों में अम् मिलता है जैसे— विभाजम् अवलुपम् इत्यादि। लेकिन पाणिनि ने इनमें णमुल् और कमुल् प्रत्यय माना है।
2. तुम्— जैसे अत्तुम्, कर्तुम्, गन्तुम् इत्यादि। पाणिनि इनमें तुमुन् प्रत्यय मानते हैं जबकि पाश्चात्य विद्वान् इनमें अद्, कृ, और गम् धातु में तु प्रत्यय लगाकर इन्हें द्वितीया विभक्ति एक वचन का रूप मानते हैं।

चतुर्थ्यन्त— चतुर्थ्यन्त तुमर्थक शब्द वैदिक भाषा में सबसे अधिक मिलते हैं। प्रत्ययों और अङ्गों के आधार पर इनका वर्गीकरण इस प्रकार है।

1. ए. प्रत्यय जोड़कर कुछ रूप बनते हैं जैसे— दृशे, भुजे, विख्ये इत्यादि। परन्तु पाणिनि इन्हें निपात मानते हैं।
2. ऐ प्रत्यय जोड़कर कुछ रूप बनते हैं जैसे— प्रयै, रोहिष्यै, अव्यथिष्यै इत्यादि। परन्तु पाणिनि ने इन्हें निपात माना है।
3. से— जिषे, चक्षसे, जीवसे इत्यादि। पाणिनि के अनुसार इनमें से प्रत्यय लगा है।
4. असे— अर्हसे इत्यादि।
5. अये— दृशये पीतये इत्यादि।
6. तये— इष्टये ऊतये इत्यादि।
7. तवे— गन्तवे, सूतवे, कर्तवे इत्यादि।
8. तवै— कर्तवै गन्तवै इत्यादि। पाणिनि ने इनमें तवै प्रत्यय माना है जबकि पाश्चात्य विद्वानों ने इसे चतुर्थ्यन्त माना है।

पञ्चम्यन्त और षष्ठ्यन्त :—

अस् ओर तोस् प्रत्ययान्त तुमर्थक, पञ्चम्यन्त ओर षष्ठयन्त माने गए हैं।

जैसे— आतृदः, अवसृपः, विलिखः इत्यादि। पाणिनि के अनुसार इनमें कसुन् प्रत्यय है। तोस्-एतोः, गन्तोः, विचरितोः, इत्यादि तोस् में समाप्त होने वाले कुछ उदाहरण है। पाणिनि ने इनमें तोसुन् प्रत्यय माना है।

सप्तम्यन्त तुमर्थक—

इस वर्ग में आने वाल तुमर्थकों का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है

1. हलन्त अङ्गों से सप्तम्यन्त। जैसे— सचक्षि, बुधि इत्यादि।
2. तृ अङ्गों से, धर्तरि इत्यादि।
3. सन् प्रत्ययों से— जैसे— नेषणि, पर्षणि इत्यादि।

卐 卐 卐

वैदिक स्वर

(VEDIC ACCENT)

ग्रीक भाषा की भाँति वैदिक भाषा की प्रमुख विशेषता है उसका स्वर युक्त होना। वेदों के यथार्थ ज्ञान के लिए स्वरों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। चारों वेद, तैतरीय ब्राह्मण ओर उसके आरण्यक ग्रन्थ तथा शतपथ ब्राह्मण स्वरों से चिह्नित है। प्रत्येक वर्ण का उच्चारण समान बल से नही किया जाता। वर्ण के उच्चारण में जिस बल का प्रयोग होता है वह स्वर कहलाता है। वेद में तीन प्रकार के स्वर हैं। उदात्त— तालु इत्यादि ऊर्ध्व भागों से निष्पन्न होने वाला अच् उदात्त कहलाता है **(उच्चैरुदात्तः)**

अनुदात्त— जिस स्वर के उच्चारण में गात्र नीचे की तरफ खिंचे उसे अनुदात्त कहते हैं **(नीचैरनुदात्तः)**

स्वरित— जिस स्वर के उच्चारण में गात्र पहले ऊपर की ओर खिंचे और तदन्तर नीचे की ओर खिंचे तो उसे स्वरित कहते हैं **(समाहारः स्वरितः)**।

वैदिक साहित्य का स्वराकन सर्वत्र एक सा नहीं है। ऋग्वेद, अथर्ववेद, वाजसनेयी संहिता, ओर तैतरीय संहिता में अनुदत्त नीचे पड़ी पाई (-) और स्वरित ऊपर खड़ी पाई (।) से चिह्नित किया जाता है जबकि उदात्त अचिह्नित रहता है जैसे— अ॒ग्निना॑ में अ अनुदात्त है ग्नि का इ उदात्त है और ना का आ स्वरित है।

स्वतन्त्र स्वरित (जो उदात्त पर अश्रित नहीं है) के पश्चात् यदि उदात्त आता है तो वह संख्यावाची १ से चिह्नित किया जाता है यदि स्वरित का स्वर ह्रस्व है और यदि स्वरित का स्वर दीर्घ है तो वह ३ से चिह्नित होता है जैसे— वीर्य १॑ मिन्द्र और त॒न्वा ३॑ सं। (स्वतन्त्र स्वरित पर विस्तृत टिप्पणी आगे है)।

स्वराङ्कन के सामान्य नियम

प्रत्येक शब्द में एक उदात्त के अतिरिक्त सभी अनुदात्त होते हैं

(अनुदात्तं पदमेकवर्जम्)

अपवाद — परन्तु इस नियम के कुछ अपवाद हैं जो निम्नलिखित हैं।

1. देवता द्वन्द्व समास में जहाँ दोनों पद द्विवचनान्त होते हैं दो उदात्त होते हैं जैसे मित्रावरुणा यहाँ त्रा और व उदात्त है **(देवता द्वन्द्वे च)**
2. अलुक षष्ठी समास में भी दो उदात्त होते हैं। जैसेः— बृहस्पतिः। यहाँ बृ ओर प में उदात्त हैं। **(उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्)**
3. तुमुन् के अर्थ में लगने वाले प्रत्यय 'तवै' में समाप्त होने वाले शब्दों में दो उदात्त होते हैं जैसे—दातवै। यहाँ दा और वै में उदात्त है **(तवै चान्तश्च युगपत्)**

कुछ शब्द ऐसे हैं जिनमें उदात्त होता ही नहीं।

1. च, उ, व, इव, ई इ इत्यादि अव्यय उदात्त रहित होते हैं **(चादयोऽनुदात्ताः)**
2. त्व, सम् और एन के सभी रूप अनुदात्त होते हैं **(द्वितीयाटौस्स्वेनः)**।
3. वाक्य के प्रारम्भ में न आने वाला सम्बोधन सर्वानुदात्त होता है जैसे— स जनास इन्द्रः **(आमन्त्रितस्य च)**।
4. मुख्य वाक्य की क्रिया जब वाक्य के प्रारम्भ में न हो तो सर्वानुदात्त होती है। जैसे—अग्ने आ गहि। **(तिङ्तिङः)**
5. 'अस्य' जब वाक्य के प्रारम्भ में न हो और पहली संज्ञा के बदले में प्रयुक्त हो तो सर्वानुदात्त होता है। जैसे—अस्य— जनिमानि।
6. 'यथा' जब इव के अर्थ में प्रयुक्त होता है और वाक्य के अन्त में आता है तो सर्वानुदात्त होता हैं जैसे— तायवो तथा।

2. उदात्त के पश्चात् यदि अनुदात हो तो उस अनुदान का स्वरित बन जाता है।

3. स्वरित के पश्चात् आने वाले अनुदात्तों को चिह्नित नहीं किया जाता। उनकी एक श्रुति हो जाती है **(स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्)** परन्तु यदि स्वरित के पश्चात् उदात्त दिखलाना हो तो अन्तिम अनुदात्त को चिह्नित कर देते हैं जैसे जनास इन्द्रः।

यहाँ ज के बाद आने वाले सारे अनुदात्त है इसीलिए इन्हें चिह्नित नहीं किया गया परन्तु द्र को उदात्त चिह्नित करना है अतः अन्तिम अनुदात्त 'इ' को चिह्नित किया गया है।

प्रातिपदिकों या संज्ञा शब्दों का स्वर विधान—

1. जिन संज्ञा शब्दों के अन्त में 'अस्' आता है यदि वे नपुसंकलिङ्ग हो तो मूल शब्द पर उंदात्त होता है। जैसे— अपः (कर्म) लेकिन यदि वे पुल्लिङ्ग है तो उदात्त प्रत्यय पर होता है। जैसे— अपः (जल)।
2. इष्ठन् तथा ईयसुन् से समाप्त होने वाले शब्दों में उदात्त प्रथम अक्षर पर होता है जैसे— यजिष्ठा तथा जवीयांस परन्तु यदि शब्द से पूर्व उपसर्ग लगा हो तो उदात्त उपसर्ग पर होता है। जैसे—आगागिष्ठ ओर प्रतिच्यवीयांस।
3. मन् प्रत्यय में समाप्त होने वाले नपुसंकलिङ्ग में मूल शब्द पर उदात्त होता है। जैसे— कर्मन्।
4. इन् प्रत्यय में समाप्त होने वाले शब्दों में उदात्त इन् पर होता है जैसे— आश्विन्।
5. मान्त शब्दों में उदात्त म पर होता है जैसे अष्टम।
6. तरप् और तमप् प्रत्यय में समाप्त होने वाले शब्दों में उदात्त तरप् ओर तमप् प्रत्यय पर होता है जैसे— दातरं तथा धातमम्।

समास में स्वर विधान

1. आम्रेडित पदों के समास में पूर्व पद पर उदात्त होता है। जैसे— अहरहः। (अनुदात्तं च)
2. बहुव्रीहि समास में उदात्त पूर्व पद पर होता है जैसे— राजपुत्रः (बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्)
3. कर्मधारय में अन्तिम पद में उदात्त होता है जैसे प्रथम परन्तु क्त, क्तवतु प्रत्यम में उदात्त प्रथम पद पर होता है जैसे— दुहिता। **(कर्मधारयेऽनिष्ठा)**
4. तत्पुरुष समास में उदात्त अन्तिम अक्षर पर होता है जैसे— गोत्रभिद् तथा राजपुत्रः।

5. परन्तु कृत्यान्त समासों में उदात्त पूर्वपद पर होता है। जैसे—शुकबभ्रुः तथा इन्द्रप्रसूत इत्यादि।

6. द्वन्द्व समास में उदात्त अन्तिम अक्षर पर होता है। इष्टापूर्तम् तथा दोषावस्तः इत्यादि (समासस्य)।

7. परन्तु देवता द्वन्द्व में दो उदात्त होते हैं जैसे—मित्रावरुण (देवता द्वन्द्वे च)

8. द्वन्द्व समास में संख्यावात्ती पूर्व पद पर उदात्त होता है जैसे—एकादश। (संख्या)

9. अव्ययीभाव में अन्तिम पद पर उदात्त होता है जैसे अनुकामम्

तिङन्त शब्दों में स्वर विधान

1. लुङ् लङ् और लृङ् में अट् उदात्त होता है। जैसे— अभवत्, अभूत्, अभविष्यत् (लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्दात्तः)।

2. वर्तमानकाल में भ्वादि और दिवादिगण में धातु पर उदात्त होता है जैसे— भवति। लेकिन तुदादिगण में उदात्त विकरण पर होता है तुदति।

3. लुङ् में स और इस् में अन्त होने वाल रूपों में धातु पर उदात्त होता है। जैसे—वंसि तथा शंसिषम् इत्यादि।

4. लृट्लकार में हमेशा ही 'स्य' पर उदात्त होता है जैसे—एष्यति।

5. चुरादिगण ओर णिजन्त में धातु में उदात्त होता है जैसे—पातयति।

6. यङ्तम, नाम धातु तथा कर्मवाच्य में उदात्त य पर होता है जैसे—मुच्यते। नेनीयते

7. सनन्त में अभ्यास पर उदात्त होता है जैसे—पिप्रीषति

8. ल्यप् ओर क्त्वा में धातु पर उदात्त होता है जैसे—श्रुत्य तथ श्रुत्वा।

उपसर्गों में स्वर विधान

1. प्रधान वाक्य में उपसर्ग में उदात्त होता है जैसे—आगमत्।

2. लेकिन गौण वाक्य में उपसर्ग अनुदात्त होता है। जैसे— परिप्रयार्थ।

3. यदि प्रधान वाक्य में दो उपसर्ग हो तो पहला उपसर्ग ही उदात्त होता है जैसे उपप्रयाहि।

सन्धि में स्वर विधान

1. दीर्घ ओर गुण सन्धि में यदि दोनों में से कोई भी स्वर उदात्त है तो एकादेश दीर्घ या गुण अक्षर में उदात्त ही होगा। जैसे—इह + अस्ति इहास्ति।
2. यण् सन्धि में जब उदात्त इ, उ, ऋ, लृ, य्, व्, र्, ल् में परिवर्तित हो जाते हैं तो परवर्ती अनुदात्त, स्वरित हो जाता है। जैसे—वि + आनट् व्याइनट् नु + इन्द्रः — न्विइन्द्रः ।
3. यदि ए ओ के पश्चात् उदात्त अ का पूर्वरूप हो तो अ का उदात्त ए ओ पर चला जाता है जैसे—सूनवे + अग्ने —सूनवेऽग्ने।
4. परन्तु यदि ए, ओ उदात्त हो ओर पश्चाद्वर्ती अ अनुदात्त हो तो पूर्वरूप होने पर ए पर स्वतन्त्र स्वरित हो जाता है जैसे— सो + अब्रवीत् = सो ३ ब्रवीत्।

卐 卐 卐

स्वरित

उदात्त और अनुदात्त का समाहार स्वरित कहलाता है '**समाहारः स्वरितः**'। उदात्त के पश्चात् यदि अनुदात्त आता है तो उस अनुदात्त का स्वरित बन जाता है, यदि उसके पश्चात् उदात्त अथवा स्वतन्त्र स्वरित न हो। यदि अनुदात्त के पश्चात् उदात्त है तो अनुदात्त को स्वरित चिह्नित नहीं कर सकते क्योंकि तब वह उदात्त अनुदात्त ही मान लिया जाएगा। कारण यह है कि स्वरित के पश्चात् आने वाले सभी अनुदानों की एकश्रुति हो जाती है '**स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्**' अर्थात् उनको चिह्नित नहीं किया जाता।

आधुनिक विद्वानों के अनुसार स्वरित के दो भेद हैं—

(1) **आश्रित स्वरित** और (2) **स्वतन्त्र स्वरित**

(1) **आश्रित स्वरित**— वास्तव में स्वरित एक आश्रित स्वरित है जो उदात्त पर आश्रित होता है। जब उदात्त के बाद अनुदात्त आता है तो वह अनुदात्त स्वरित बन जाता है; यदि उसके बाद उदात्त अथवा स्वतन्त्र स्वरित न हो। यथा अग्निना में नि का 'इ' उदात्त है अतः उसके बाद आने वाला 'ना' का अनुदात्त 'आ' स्वरित बन गया। इस प्रकार उदात्त + अनुदात्त के मेल से बनने वाले स्वरित को आश्रित स्वरित कहते हैं।

(2) **स्वतन्त्र स्वरित**— परन्तु कभी-कभी सन्धि के नियमों से दो स्वरों का एकादेश होने पर उदात्त स्वर का लोप हो जाता है और तब जब उदात्त के पूर्ववर्ती न होने पर भी अनुदात्त स्वरित बन जाता है तो उसे '**स्वतन्त्र स्वरित**' कहते हैं।

प्रातिशाख्यों ने स्वतन्त्र स्वरित के निम्न भेद दिए हैं—

(क) जात्य अथवा नित्य स्वरित

एक पद में संयुक्त व्यञ्जन का अन्तिम अक्षर यदि मकार अथवा वकार है और उसके बाद आने वाले स्वरित से पहले उदात्त है अथवा नहीं है तो उसे जात्य स्वरित कहते हैं। यथा 'क्व'। यहाँ कु + अ मूलरूप में था। कु उदात्त था तथा

'अ' अनुदात्त था तो अनुदात्त 'अ' उदात्त कु के कारण स्वरित बन गया था। परन्तु यण् सन्धि होने पर क्व् + अ बन गया। यहाँ संयुक्त व्यञ्जन क्व् का अन्तिम अक्षर 'व्' है ओर उसके बाद आने वाले स्वरित अर्थात् 'अ' से पहले अब उदात्त नहीं है फिर भी 'अ' स्वरित ही रहा। इसी प्रकार स्वः में मूल रूप सु + अः था। यण् सन्धि होने पर स्व् + अः हो गया। इसमें में भी संयुक्त व्यञ्जन स्व् का अन्तिम अक्षर 'व्' है। उदात्त के पूर्ववर्ती न होने पर भी अनुदात्त 'अ' स्वरित हो गया। इसी प्रकार कन्या में मूल रूप कनि + आ है। यहाँ 'नि' उदात्त पूर्ववर्ती होने के कारण पश्चाद्वर्ती अनुदात्त 'आ' स्वरित हो गया। परन्तु यण् सन्धि होने पर कन्य् + आ बन गया। यहाँ संयुक्त अक्षर न्य् का अन्तिम अक्षर 'य्' है और इसके पश्चात् स्वरित आ है। इस आ के पूर्व उदात्त अक्षर न होने पर भी स्वरित बन गया। पहले दो उदाहरणों में उदात्त अथवा अनुदात्त दोनों के ही अभाव में 'अ' स्वरित हो गया था जबकि तीसरे उदाहरण में अनुदात्त के पश्चात् आने वाला अनुदात्त स्वरित बन गया।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य के भाष्य में उब्बट ने लिखा है कि उदात्त और अनुदात्त की सङ्गति के बिना जाति (स्वरूप) से ही जो स्वरित उत्पन्न हुआ है वह जात्य अथवा नित्य स्वरित कहलाता है।

(ख) क्षैप्र स्वरित

यण् संधि का स्वतन्त्र स्वरित **क्षैप्र स्वरित** कहलाता है। यण् संधि में जब उदात्त इक् यण् में परिवर्तित होता है तो परवर्ती अनुदात्त स्वतन्त्र स्वरित बन जाता है। यदि बाद वाला स्वर ह्रस्व है तो वह संख्यावाची १ से चिह्नित किया जाता है और यदि बाद वाला स्वर दीर्घ है तो वह संख्यावाची ३ से चिह्नित किया जाता है। यथा नु + इन्द्रः = न्वि १ न्द्रः तथा वि + आनट् = व्या ३ नट्।

यहाँ प्रथम उदाहरण में नु उदात्त है और इसका पश्चाद्वर्ती 'इ' अनुदात्त है अतः इ स्वरित बन गया। परन्तु यण् सन्धि होने पर न्व् + इन्द्रः बन गया। अब इ से पूर्व उदात्त न होने पर भी 'इ' स्वरित हो गया अतः यह स्वतन्त्र स्वरित कहा जाएगा। और चूंकि 'इ' ह्रस्व है अतः यह संख्यावाची १ से चिह्नित होकर न्वि १ न्द्रः बनेगा।

दूसरे उदाहरण में वि उदात्त पूर्ववर्ती होने पर पश्चाद्वर्ती अनुदात्त 'आ' स्वरित हो गया। परन्तु यण् सन्धि होने पर व्य् + आनट् हो गया। अब अनुदात्त आ से पूर्व उदात्त नहीं है परन्तु तब भी यह स्वरित बन जाएगा। और उदात्त पर

आश्रित न होने के कारण यह स्वतन्त्र स्वरित कहलाएगा। परवर्ती 'आ' दीर्घ है अतः उसे संख्यावाची ३ से चिह्नित किया जाएगा और रूप बनेगा व्या ३ नट्। यण् संधि का स्वतन्त्र स्वरित **क्षैप्र स्वरित** कहलाता है।

(ग) अभिनिहित स्वरित

अभिनिहित अर्थात् पूर्वरूप संधि में जब उदात्त ए ओ के साथ पश्चाद्वर्ती अनुदात्त अ का पूर्वरूप होता है तो ए ओ पर स्वतन्त्र स्वरित हो जाता है। जैसे— सो + अब्रवीत् = सो३ ब्रवीत्। इसे **अभिनिहित स्वरित** कहते हैं।

(घ) प्रश्लिष्ट स्वरित

जब प्रश्लिष्ट अर्थात् दीर्घ सन्धि में पूर्ववती उदात्त पद का पश्चाद्वर्ती अनुदात्त पद के साथ दीर्घ एकादेश होता है और जब वह अनुदात्त उदात्त न होने पर भी स्वरित बन जाता है तो ऐसा स्वतन्त्र स्वरित प्रश्लिष्ट स्वरित कहलाता है। यथा— दिक्षु + उपदधाति = दिक्षू ३ पदधाति।

卐 卐 卐

तिङन्त

वैदिक भाषा धातुओं के प्रयोग तथा प्रत्यय की दृष्टि से लौकित संस्कृत की अपेक्षा अधिक समृद्ध भाषा है। लौकिक संस्कृत के समान ही इसमें भी आत्मनेपद तथा परस्मैपद दोनों ही उपलब्ध हैं। कुछ धातुओं में केवल परस्मैपद और कुछ में केवल आत्मनेपद का प्रयोग होता है। कुछ धातुएँ दोनों पदों में ही प्रयुक्त होती हैं। यथा कृणोति, कृणुते।

विकरणों अथवा अङ्गों की दृष्टि से वैदिक भाषा में वैसी नियमितता नहीं है जैसी लौकिक संस्कृत में है। इसी कारण पाणिनि ने कई विकरणों के पश्चात् 'बहुलं छन्दसि' का विधान किया। धातुओं के गणों में भी परिवर्तन हो जाता है। किसी गण की धातु किसी अन्य गण की धातु के समान प्रयुक्त हो जाती है

प्रत्येक कालवाची तिङन्त तथा भाववाची तिङन्त में एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन हैं। प्रथम, मध्यम तथा उत्तम ये तीन पुरुष भी हैं। मैक्डॉनल के अनुसार लोट् लकार के उत्तम पुरुष के रूप प्राप्त नहीं होते।

पाणिनि ने लट्, लिट्, लुट लृट लेट् लोट् लङ् लिङ् लुङ् लृङ् के लिए सामान्यत: 'ल्' का प्रयोग किया है और 'ल्' के स्थान पर तिप् तस् झि इत्यादि विभक्तियों का आदेश किया है। इस प्रकार पाणिनि के अनुसार ये लकार हैं।

पाश्चात्य विद्वान् इनका विभाजन कालवाची तथा भाववाची अर्थ को ध्यान में रखते हुए करते हैं। पाश्चात्य विद्वान लट्, लङ्, लिट्, लुङ्, लृट् तथा लुट् को कालवाची मानते हैं। द्योतक, लेट्, विधिमूलक भाव, लिङ् तथा लोट् भाववाची लिङन्त हैं।

पणिनि ने विशेष रूपों के आधार पर विशेष विकरणों की कल्पना करके उनका विभाजन 10 गणों में किया है

1. भ्वादिगण का विकरण शप् है भू+शप्+ति-भवति
2. अदादिगण का विकरण लुक् है अद्+ति-अति
3. जुहोत्यादिगण का विकरण श्लु (द्वित्व) है हु+श्लु+ति-जुहोति
4. दिवादिगण का विकरण श्यन् (य) है दीव्+श्यन्+ति-दीव्यति

5.	स्वादिगण का विकरण	श्नु (नु) है	सु+श्नु+ति–सुनोति
6.	तुदिदिगण का विकरण	शः (अ) है	तुद्+श+ति–तुदति
7.	रुधादिगण का विकरण	श्नम् (न) है	रुध्+श्नम्+ति–रुणद्धि
8.	तनादिगण का विकरण	उ है	तन्+उ+ति–तनोति
9.	क्रयादिगण का विकरण	श्ना (ना)है	क्री+श्ना+ति–क्रीणाति
10.	चुरादिगण का विकरण	अय् है	चुर्+अय+ति–चोरयति

वैदिक भाषा में एक धातु कई गणों में भी प्रयुक्त होती थी। पाणिनि भी इस प्रवृति से अनभिज्ञ न थे तथा उन्होंने गणों के विकल्प के लिए निम्नलिखित सूत्रों की रचना की–

बहुलं छन्दसि

वेद में अदादिगण की धातुओं में शप् का लोप विकल्प से होता है। यथा वृत्रं हनति (हन्ति के स्थान पर) तथा अहिः शयते (शेते के स्थान पर)।

जुहोत्यादि गण की धातुओं में श्लु विकरण विकल्प से होता है। श्लु न होने से द्वित्व नहीं होता। जैसे दाति (ददाति के स्थान पर) धाति (दधाति के स्थान पर)

जो धातु जुहोत्यादिगण की नहीं है उनमें भी कई बार श्लु होकर द्वित्व हो जाता है। विवष्टि (वष्टि के स्थान पर)

व्यत्ययो बहुलम्

कई स्थानों पर इस सूत्र से भी गणों का व्यत्यय मान लिया गया है।

प्रत्यय

पाणिनि सामान्यतः ल् के स्थान पर तिप् तस् झि इत्यादि प्रत्ययों की कल्पना करते हैं। विभिन्न स्थानों पर लकारों तथ अङ्गों के अनुसार उनका परिवर्तन यथास्थान करते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों ने प्रत्ययों की दृष्टि से अङ्गों का दो मुख्य भागों में विभाजन किया है। (1) ऐसे अङ्ग जो लिट् अङ्ग कहलाते हैं (2) लिट् अङ्गों से भिन्न।

परस्मैपद लिट् भिन्न अङ्ग

लट्—	ति	तस्	झि (अन्ति)
	सि	थस्	थ (धन)
	मिप्	वस्	मस्

लिङ्	ईत्	आताम्	ईयुः	यात	याताम्	युः
	ईस्	आताम्	ईत	यास्	यातम्	यात
	ईयम	ईव	ईम	याम्	याव	याम

लेट्	अति,	अत्	अतस्	अन्
	असि	अस्	अथस्	अथ
	आनि	आ	आव	आम

लिट्	अ	अतुस्	उस्
	थ	अथुस्	अ
	अ	व	म
लङ्	त्	ताम्	अन्
	स्	तम्	त, तन
	अ(म्)	व	म
लोट्	तु	ताम्	अन्तु
	तात् हि धि	तम	त तन
	—	—	—

आत्मनेपद

लटलकार	ते	आते	अन्ते
	से	आथे	ध्वे
	ए	वहे	महे
लङ् लकार	त	आताम्	अत
	थास्	आथाम्	ध्वम्
	इ	वहि	महि
लिङ्	ईत	ईयाताम्	ईरन्
	ईथाः	ईयाथाम्	ईध्वम्
	ईय	ईवहि	ईमहि
लेट्	अते अतै	एते	अन्तै अन्त
	असे असै	ऐथे	अध्वै
	ऐ	आवहै	आमहे आमहै
लोट्	ताम्	आताम्	अन्ताम्
	स्व	आथाम्	ध्वम्
	—	—	--

लिट्	ए	आते	इरे
	से	आथे	ध्वे
	ए	वहे	महे

भाववाची तिङन्त

भाववाची तिङन्त के विशेष प्रत्यय कालवाची अङ्गों के ही अभिन्न अङ्ग हैं। इसीलिए पाश्चात्य विद्वान् प्रत्येक कालवाची तिङन्तों के साथ ही उनके भाववाची रूप भी उद्धृत करते हैं।

द्योतक भाव

प्रत्येक कालवाची तिङन्त का सामान्य द्योतक होता है इसके अतिरिक्त चार मुख्य भाववाची तिङन्त हैं जिनका विवरण इस प्रकार है

लोट् (Imperative)

लोट् भाव केवल आज्ञा अर्थ को ही अभिव्यक्त नहीं करता परन्तु इसके साथ इच्छा, अनुरोध इत्यादि के अर्थ भी सम्बद्ध रहते हैं। 'देवाँ इह आवह' में प्रार्थना है, अहेलमानो बोधि (क्रुध मत हो) में इच्छा है, छिन्धि में आज्ञा है। मैक्डॉनल महोदय के अनुसार वास्तविक लोट् लकार का प्रयोग निषेधात्मक नहीं था। इसी कारण सम्भवतः इसका निषेधात्मक शब्द 'मा' के साथ कभी प्रयोग नहीं हुआ। लोट् के प्रत्पयों की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(1) पाणिनि 'सि' के स्थान पर 'हि' का आदेश करते हैं और इसे अपित् मानते हैं (सेर्ह्यपिच्च) परन्तु 'वा छन्दसि' से वेद में 'हि' को विकल्प से अपित् मानते है। अपित् पक्ष में यह ङिद्वद् होकर गुण वृद्धि का निषेध करता हैं। यथा गृभ्णाहि, गृभ्णीहि (अपित्)

(2) श्रु शृणु, पृ, कृ, वृ धातुओं में 'हि' के स्थान पर 'धि' आदेश करते है (श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि) तथा 'वा छन्दसि' से इसे विकल्प अङित् मानते हैं। युयोधि (पित्) युयुधि (अपित् और ङिद्वद्)

(3) हलन्त धातुओं से परे 'श्ना' विकरण होने पर और उससे परे 'हि' होने पर 'श्ना' के स्थान पर 'शानच्' हो जाता है और 'अतो हेः' से हि का लोप हो जाता है। उदाहरण-गृहाण √ गृह + श्ना + हि = गृह् + शान च् + हि लोप -गृहाण। इसी प्रकार बधान अशान इत्यादि रुप बने हैं।

(4) 'हि' के स्थान पर 'शायच्' (आय) प्रत्यय भी मिलता है। यथा-गृभाय (छन्दसि शायजपि)

(5) 'हि' के स्थान पर तात् प्रत्यय भी मिलता है। जैसे-वित्तात्, कृणुतात्, पुनीतात् इत्यादि।

(6) लोट् के मध्यम बहुवचन में वेद में 'त' के स्थान पर तप्, तनप्, तन, तथा थन प्रत्यय भी मिलते हैं। तनप् और तन में केवल अङ्ग का भेद है। तन प्रत्यय के साथ अङ्ग में गुण नहीं होता। जैसे-जुहोत, जुहोतन, इतन, यजिष्ठन आदि (तप्तनप्तनथनाश्च)

(7) मध्यम पुरुष बहुवचन में 'ध्वम्' के स्थान पर 'ध्वात्' प्रत्यय भी मिलता है। यथा वारयध्वात् (ध्वमो ध्वात्)

(8) पाणिनि ने यजध्वम् के स्थान पर यजध्वैनम् को निपात माना है (यजध्वैनमिति च)

विधिमूलक भाव

इसकी विस्तृत व्याख्या आगे है। दृष्टव्य पृष्ठ संख्या 356

लेट् लकार

इसकी विस्तृत व्याख्या आगे है। दृष्टव्य पृष्ठ संख्या 354

विधिलिङ् (Optative mood or Potential mood)

पाणिनि ने लिङ् का प्रयोग विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, सम्प्रश्न तथा प्रार्थना के अर्थों में बतलाया है '**विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषुलिङ्**'। पाश्चात्य विद्वान इस भाव का मुख्य अर्थ 'कामना' बतलाते है। यथा विधेम ते स्तोमैः (हम स्तोत्रों से स्तुति करें)। (दृष्टव्य लेट् लकार)

लृङ् लकार

'**लिङनिमित्ते लृङ्क्रियातिपत्तौ**' यदि ऐसा हुआ होता तो ऐसा होता' इस प्रकार परवर्ती भविष्यत् क्रिया का निमित्त पूर्वक्रिया में हो तो यह लृङ् (Conditional)कहलाता है। इसका विशेष प्रत्यय 'स्य' भविष्यत् काल के समान है '**स्यतासी लृलुटोः**' परन्तु आदि में 'अट्' का आगम भूतकाल के समान है। पाश्चात्य विद्वानों के अुनसार लृङ् भूतकाल में परन्तु भविष्य की सम्भावना जैसा अर्थ अभिव्यक्त करता है। यथा 'अभरिष्यत्'।

कालवाची तिङन्त (Tense)

लट् (वर्तमान काल)

लट् का प्रयोग वर्तमान के अर्थ में होता है '**वर्तमाने लट्**' परन्तु ऋग्वेद में वर्णनात्मक वाक्यों में भूतकाल के अर्थ में भी लट् का प्रयोग किया जाता है।

जैसे 'पुरुत्रा वृत्रो अशयद् व्यस्तः' तथा 'अमुया शयानम् अति यन्ति आपः'।

'पुरा' के साथ भूतकाल के अर्थ में वर्तमानकाल प्रयुक्त होता है 'सचावहै यदवृकं पुरा चित्'

'स्म पुरा' के साथ भी वर्तमान का प्रयोग भूतकाल के प्रयोग को अभिव्यक्त करता है 'सं होत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति'। कहीं कहीं लट् लकार लेट् लकार के अर्थ को अभिव्यक्त करता है। यथा "अहमपि हन्मीति होवाच"।

भूतकाल

लङ्, लुङ् एवं लिट् इन सबका प्रयोग सामान्य भूत के अर्थ में भी होता है यद्यपि इनके भूतवाची अर्थ वेदों में अपने विशेष अर्थ की स्पष्टतः अभिव्यक्ति करते हैं। पाणिनि वेद में सब कालों में लुङ्, लङ् एवं लिट् के प्रत्यय मानते हैं और दूसरे पक्ष में अपने लकारों में भी इनका प्रयोग मानते हैं **'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः'**। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक भाषा में भूतकाल के अर्थ में इन सब लकारों का प्रयोग होने पर भी इनकी प्रयोग सम्बन्धी जटिलता विद्यमान नहीं थी जैसी शनैः शनैः लौकिक संस्कृत में हो गई। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है

लङ् लकार (Imperfect)

यह शुद्ध भूतकाल को अभिव्यक्त करता है। यथा **'अहन् अहिम्'**। लिट् और लुङ् के समान इसका सम्बन्ध वर्तमान से नहीं है।

लुङ् लकार (Aorist)

लुङ् प्रायः भूतकाल में घटित और वर्तमान में कही जाने वाली घटना की अभिव्यक्ति करता है। प्रायः इसमें अनद्यतन भूत की अभिव्यक्ति होती है। यथा **'प्रतिदिवो अदर्शि दुहिता'**। लुङ् का विभाजन दो प्रकार से किया गया है (1) स लुङ् तथा (2) स रहित लुङ्। दोनों मिलाकर सात प्रकार के रुप प्राप्त होते हैं। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार लुङ् के अङ्ग में भाववाची प्रत्यय लगते है।

1. **स लुङ् (शल इगुपधादनिटः क्सः)**

द्योतक भाव-जैसे अधुक्षत्

2. **स् लुङ् (सिच्)**

द्योतक भाव - अभार्षम्

लेट् - स्तोषाणि

विधिमूलक - जेषम्। पाणिनि इसे लुङ् का रूप मानकर आदि 'अट्' का लोप करते हैं।

लिङ् - मुक्षीय, मंसीष्ट

लोट् - साक्ष्व, पर्ष

3. इष् लुङ्

द्योतक भाव - अक्रमिषम्

लेट् - बोधिषत्

विधिमूलक - तारिष्टम्

लिङ् - मोदीषीष्ठाः

लोट्-अविड्ढि

4. सिष् लुङ्

द्योतक - अयासिषम्

लेट् - दासिषत्

लिङ् - वंसिषीय

विधिमूलक - रंसिषम्

लोट् - यासिष्टम्

5. अङ्ग लुक्

लुङ् का यह भेद लङ् से मिलता है। इसमे प्रत्यय अ सहित तथा अ रहित मिलते हैं। पाणिनि इनमें च्लि के स्थान पर अङ् (चङ्) का विधान करते हैं

द्योतक — अविदम्

लेट् — विदाति, विदात, विदाते

विधिमूलक — विदम्, विदः

लिङ् — विदेयम्, विदेः

लोट् — सद, सदतम्

इसमें अनेक व्यत्यय भी हैं।

6. धातु लुङ्

इस लुङ् में धातु के पश्चात् प्रत्यय लगता है। पाणिनि इस लुङ् में च्लि के स्थान पर सिच् करके सिच् लोप मानते हैं। यथा अस्थात्।

द्योतक — अस्थात्, अभुवम्, अकः आदि।

लेट् — करा, करन्ति, करन्।

विधिमूलक — भुवम्, भोजम्।

लिङ् — वृज्याम्, ऋष्याम, अशीय।

लोट् — पूर्धि, वर्तम्, गत।

7. द्वित्वाङ्ग लुङ्

पाणिनि इस लुङ् में चङ् मानते हैं और अङ्ग का द्वित्व करते हैं। पाश्चात्य विद्वान भी अङ्ग के आधार पर इसे द्वित्वाङ्ग लुङ् कहते हैं।

द्योतक — अनीननशम्-अ + नीनश + अ म् - अनीनशम्।

लेट् — पस्पृशाति, पिस्स्पृशति।

विधिमूलक — दीधरम्, सिष्वदत्।

लिङ् — वोचेयम्, रीरिषे:।

लोट् — वोचतात्, दिधृतम्, सुषूदत।

लिट् लकार (Perfect)

लिट् लकार का अर्थ वैदिक भाषा में पूर्ववर्ती क्रिया पर निर्भर रहता है। यदि पूर्ववर्ती क्रिया में वर्तमानकालिक अर्थ है तो पश्चाद्वर्ती क्रिया का अर्थ भी वैसा ही होगा। परन्तु 'पुरा' और 'नूनं' के साथ इनका अर्थ क्रमशः भूतकाल और वर्तमान काल का होगा। 'शश्वद्धि ऊतिभिर्वयं पुरा नूनं बुभुज्महे (हम पूर्व भी आपकी रक्षा का सेवन करते थे और अब भी करते हैं)।

लिट् का अर्थ वर्तमान काल जैसा भी हो सकता है। यथा-कश्चिकेत (कौन जानता है)।

लिट् का प्रयोग अनद्यतन के अर्थ में भी होता है। जैसे 'पुत्रः कण्वस्य वामिह सुषाव सोम्यं मधु' (कण्व के पुत्र ने तुम्हारे लिए मधु का सेवन किया है)।

परोक्ष के अर्थ में लिट् का पर्याप्त प्रयोग मिलता है। यथा 'इन्द्रश्च युद्युयुधाते अहिश्चोतापरीभ्यो मघवा विजिग्ये '(इन्द्र एवं वृत्र का जब युद्ध हुआ तो वृत्र द्वारा प्रयुक्त अन्य प्रकार की मायाओं को भी इन्द्र ने विशेष रुप से जीत लिया)।

लिट् के अर्थ में लङ् का प्रयोग भी होता है। उदाहरणस्वरुप 'अवासृजत् सर्तवे सप्त सिन्धून'।

लिट् में द्योतक के अतिरिक्त लेट् विधिमूलक, लिङ् तथा लोट् के भाव भी प्राप्त होते हैं। यथा ततनः, शशास, जगम्याम् शशाधि आदि।

अयुक्त लिट् (Plunerfect)

अर्थ की दृष्टि से इसका भेद लङ् लकार से नहीं किया जा सकता। उदाहरणस्वरूवप, 'सूर्यमजभर्तन' (सूर्य को लाए)। लङ् व लुङ् के समान इसके आदि अट् का लोप भी हो जाता है। यथा 'ननमः, तस्तम्भत् इत्यादि।

' लृट् लकार (Future)

लृट् लकार के रूप वेदों में कम प्राप्त होते हैं क्योंकि लेट् अथवा लट् लकार से ही प्रायः भविष्य के अर्थ की अभिव्यक्ति हो जाती है। लृट् में भविष्य के कालसम्बन्धी विचारों पर अधिक बल है और इच्छाओं तथा आशाओं पर कम। प्रायः भविष्य में होने वाली इच्छाओं की अभिव्यक्ति लेट् लकार से ही हो जाती है। यथा 'स्तविष्यामि त्वामहं', 'किं स्विद् वक्ष्यामि'। लृट् लकार का प्रयोग प्रायः 'अथ' शब्द के साथ होता है''पतिं नु मे पुनर्युवानं कुरुतम् अथ वां वक्ष्यामि''।

लुट् लकार (Peliphrastic Furure)

प्राय ब्राह्मण ग्रन्थों में लुट् लकार के प्रयोग मिलते हैं। किसी विशेष घटना की भविष्य में विशेष समय पर होने वाली अभिव्यक्ति के लिए लुट् लकार का प्रयोग किया जाता है। अतः इसके साथ प्रायः प्रातः और श्वः का प्रयोग होता है। यथा—

'संवत्सरतमीं रात्रिमा गच्छतात् तन्मा एकाम् रात्रिमन्ते शयितासे'।

कई बार अवश्यम्भावी घटना की अभिव्यक्ति के लिए इसका प्रयोग होता है। 'सेवेयमद्यापि प्रतिष्ठा सो एवाप्यतोऽधि भविता'।

लौकिक संस्कृत में लागू होने वाले सूत्रों का वैदिक भाषा में नियमिततापूर्वक प्रयोग नहीं होता। वैदिक धातु रूपों में प्राप्त होने वाली कुछ प्रमुख अनियमितताएँ इस प्रकार हैं—

1. वेदों में विभिन्न विकरणों का पारस्परिक परिवर्तन हो जाता है। व्यत्यय का अर्थ परिवर्तन अथवा उल्लङ्घन है। यथा हन् धातु अदादिगण की है। लौकिक भाषा में लट् लकार में इसका 'हन्ति' रूप बनता है। परन्तु वेद में जुहोत्यादि गण का 'श्लु' विकरण लग कर 'जिघ्नति' व भ्वादिगण का 'शप्' विकरण लग कर हनति रूप भी बनता है। (व्यत्ययो बहुलम्)।
2. वेद में अद् के स्थान पर घस्लृ आदेश बहुलता से होता है। जैसे लुङ् लकार में वेद में 'अघसताम' के स्थान पर 'घस्ताम् रूप भी मिलता

है। (बहुलं छन्दसि)

3. वेद में कृ, मृ, दृ और रुह् धातुओं के लुङ् लकार के रूप में च्लि को चङ् (अङ्) आदेश विकल्प से होता है। यथा अकार्षम् के स्थान पर अकरम्, अमृत के स्थान पर अमरत्, अदारीत् के स्थान पर अदरत् और अरुक्षत् के स्थान पर अरुहत्। (कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि)
4. वेद में लुङ, लङ्, लिट् इन तीनों लकारों का प्रयोग विकल्प से सभी कालों में होता है। जैसे 'देवो देवेभिरागमत्' में लुङ् लकार का 'अगमत्' लोट् लकार का अर्थ दे रहा है। 'आ पप्रौ पार्थिवं रजः' में लिट् लकार का 'पप्रौ' लट् लकार का अर्थ दे रहा है (छन्दसि लुङ्लङ्लिटः)।
5. वेद में सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्ययों का परस्पर विनिमय हो जाता है। यथा— वर्धयन्तु के स्थान पर वर्धन्तु। यहाँ पर सार्वधातुक के स्थान पर आर्धधातुक का प्रयोग हुआ है (छन्दस्युभयथा)।
6. लिट् लकार में धातु को द्वित्व हो जाता है परन्तु वेदों में यह द्वित्व विकल्प से होता है। यथा-जजागार के स्थान पर जागार (छन्दसि वेति वक्तव्यम्)।
7. लट् लकार के उत्तम पुरुष बहुवचन के 'मस्' का विकल्प से 'मसि' बन जाता है। यथा—'चरामः' के स्थान पर 'चरामसि', 'इमः' के स्थान पर 'इमसि' (इदन्तो मसि)।
8. आत्मनेपद प्रत्यय 'ते' (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) का वेद में विकल्प से लोप हो जाता है। यथा ईष्टे के स्थान पर ईशे (लोपस्त आत्मनेपदेषु)।
9. वेद में हृ ओर ग्रह् इन दो धातुओं के ह् के स्थान पर भ् आदेश होता है। यथा जहार के स्थान पर जभार, गृह्णामि के स्थान पर गृभ्णामि (हृग्रहोर्भश्छन्दसि)।
10. वेद में मी धातु का ई लघु हो जाता है। यथा प्रमीणन्ति के स्थान पर प्रमिणन्ति रूप प्राप्त होता है (मीनातेर्निगमे)।
11. लट् लकार के रूपों में कहीं-कहीं दो गणों के प्रत्यय एक साथ आ जाते हैं। जैसे शृण्वति में स्वादिगण का 'श्नु' तथा भ्वादिगण् का 'शप्' दोनों ही प्रत्यय हैं।

प्रक्रिया रूप

लौकिक भाषा में प्रयुक्त होने वाले प्रक्रिया रूप प्रायः वैदिक भाषा में भी मिलते हैं।

1. णिच्— चुरादिगण में प्राप्य विकरण 'णिच्' का प्रयोग स्वार्थ एवं प्रेरणार्थ दोनों में ही होता है। **द्युतयति** (चमकता है) **बोधयति** (बोध करवाता है)

   णिजन्त धातुओं के रूप लङ्, लेट्, लोट्, लिङ्, लृट्, लुट् तथा लृङ् में भी मिलते हैं।

2. सन्— 'इच्छा' के अर्थ के अतिरिक्त यह वैदिक भाषा में आशङ्का का अर्थ भी प्रकट करता है। यथा **मुमूर्षति**— (मरने ही वाला है) (**आशङ्कायां सन् वक्तव्यः**)।

   गुप् के साथ 'सन्' निन्दार्थ में प्रयुक्त होता है। यथा **जुगुप्सते** (**गुपेर्निन्दायाम्**)।

   तिज् के साथ 'सन्' क्षमा के अर्थ में आता है। यथा **तितिक्षते** (**तिजेः क्षमायाम्**)।

   कित् के साथ व्याधि प्रतीकार के अर्थ में 'सन्' का प्रयोग होता है। यथा **चिकित्सति** (**कितेर्व्याधिप्रतीकारे**)।

   मान् के साथ जिज्ञासा अर्थ में प्रयुक्त होता है। यथा **मीमांसाते** (**मानेर्जिज्ञासायाम्**।

   वध् के साथ घृणा आर्थ में 'सन्' का प्रयोग होता है। यथा— **बीभत्सते** (**वधेश्चित्तविकारे**)।

   ये सब प्रयोग इन अर्थों में वैदिक भाषा में भी मिलते हैं।

3. यङ् और यङ्लुक्— वैदिक भाषा में यङ् की अपेक्षा यङ्लुक् का प्रयोग अधिक मिलता है। रूपरचना की दृष्टि से तथा अर्थ की दृष्टि से यह लौकिक संस्कृत के समान ही है। यथा— **नेनीयते**।

卐 卐 卐

लेट्लकार
(SUBJUNCTIVE)

लेट् लकार केवल वेद में ही प्रयुक्त होता है। लौकिक भाषा में इसका प्रयोग नहीं होता। पाणिनि के अनुसार यह लिङ्लकार के अर्थ में प्रयुक्त होता है (**लिङर्थे लेट्**)। लिङ्लकार का प्रयोग निम्नलिखित कई अर्थों में होता है।

1. विधि, (आज्ञा देना), निमन्त्रण, आमन्त्रण, (सत्कारपूर्वक निवेदन) अधीष्ट (जैसे— मेरे पुत्र को धन दीजिए) सम्प्रश्न (सलाह लेना) और प्रार्थना इन अर्थों में लिङ्लकार का प्रयोग होता है। **विधिनिमन्त्रणा-मन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्)**
2. हेतु ओर हेतुमान क्रियाओं में— अर्थात् जब एक क्रिया के द्वारा दूसरी क्रिया होनी हो तो वहाँ विकल्प से लिङ्लकार होता है। (**हेतुहेतुमतोर्लिङ्**)।
3. इच्छा के अर्थ में भी लिङ्लकार का प्रयोग होता है। (**इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ)**
4. आशीर्वाद के अर्थ में भी लिङ् का प्रयोग होता है।
   (**आशिषि लिङ्लोटौ)**

   इसीलिए उपर्युक्त सभी अर्थो में वेद में लेट् लकार का प्रयोग भी हो सकता है।

लेट् लकार में सिप् का आगम विकल्प से होता है कहीं यह होता है और कहीं नहीं होता जैसे— पताति विद्युत् (चमकने वाली बिजली गिरे) में सिप् का आगम नहीं है) लेकिन जोषिषत् में सिप् का आगम है। (**सिब्बहुलं लेटि**)।

परस्मैपद में लेट् लकार के तिङ् के इकार का विकल्प से लोप हो जाता है। जैसे— आसाविषत् में इ का लोप हो गया परन्तु भवाति में इ का लोप नहीं हुआ। (**इतश्च लोपः परस्मैपदेषु)**

लेट्लकार में प्रत्ययों में (तिप् तस् झि . . . इत्यादि) अट् या आट्

दो आगम होते हैं। जैसे— जोषिषत् और तारिषत् में अट् का आगम है परन्तु प्रवाति और पताति में आट् का आगम है (लेटोऽडाटौ)।

वार्तिककार का कहना है कि सिप् विकरण जो केवल लेट्लकार में ही लगता है विकल्प से णित् के समान माना जाए। जहाँ इसे णित् के समान माना जाता है वहाँ आदि वृद्धि हो जाती है जैसे— 'प्रण आयूंषि तारिषत्' में तारिषत्। और जहाँ इसे णित् के समान नहीं माना जाएगा वहाँ आदि वृद्धि नहीं होगी जैसे— जोषिषत्। **(सिब्बहुलं णिद्वक्तव्यः)**

लेट्लकार में उत्तम पुरुष के सकार (वस् और मस्) का विकल्प से लोप हो जाता है। जैसे करवाव में सकार का लोप हो गया परन्तु करवावः में लोप नहीं हुआ **(स उत्तमस्य)**।

लौकिक भाषा में टित् लकारों में जैसे लट् लोट आदि में टि भाग के आ के स्थान पर एकार आदेश हो जाता है लेकिन लेट्लकार में आ के स्थान पर ऐ का आदेश हो जाता है। जैसे मादयैते, यजैते इत्यादि। (आत ऐ) परन्तु आ के स्थान पर ऐ होने वाले प्रसङ्गों को छोड़कर दूसरे स्थानों पर एकार का विकल्प हो ऐकार हो जाता है जैसे— ईशे ओर ईशै **(वैतोऽन्यत्र)**।

उपसंवाद **(कर्त्तव्य में बाँधना**— यदि आप ऐसा करें तो मैं ऐसा वरूँ) ओर आशङ्का (कार्य की संभावना) के अर्थ में लेट्लकार में ईशै और पताम निपात हैं जैसे— अहमेव पशूनामीशै (मैं यह कर सकता हूँ यदि मैं ही सब पशुओं पर शासन करूँ) और नेज्जिह्मान्त्ये नरकं पताम (ऐसा न हो कि पाप करते हुए हम नरक में गिर जाएँ। **(उपसंवादाशङ्कयोश्च)**।

卐 卐 卐

विधिमूलक भाव
(INJUNCTIVE MOOD)

सभी लकारों की अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं जैसे भ्वादिगण की धातुओं में शप् विकरण आता है, लङ् लुङ् इत्यादि में धातु से पहले अट् जोड़ा जाता है परन्तु विधिमूलक भाव की अपनी कोई विशेषता नहीं है। इसके रूप भूतकाल के रूपों के समान ही होते हैं इसमें केवल धातु से पहले अट् और आट् नहीं जोड़े जाते। ऋग्वेद में विधिमूलक भाव का प्रयोग बहुत अधिक हुआ है और इसके रूपों को लेट् लकार के रूपों से भिन्न करना बहुत अधिक कठिन हो जाता है। यथा–गमत्। मैक्डॉनल महोदय ने भी इस कठिनाई को स्वीकार करते हुए कहा है कि यह वैदिक भाषा की एक प्रमुख समस्या है। पाणिनि ने भी अडागम रहित ऐसे रूपों की विशेषता को स्वीकार किया है परन्तु उन्होंने 'मत' का अर्थ अभिव्यक्त करने वाले 'मा' निपात के साथ ही ऐसे रूपों के प्रयोग का उल्लेख किया है परन्तु वैदिक भाषा में 'मा' निपात के बिना भी ऐसे रूपों के बहुत से प्रयोग मिलते हैं।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है रूप रचना की दृष्टि से विधिमूलक भाव की अपनी कोई विशेषता नहीं है। आधुनिक विद्वानों का मत है कि भाषा विज्ञान की दृष्टि से यह प्राचीनतम था। इसका मौलिक रूप अडागम रहित रहा होगा जो प्रसङ्ग के अनुसार क्रिया के काल अथवा प्रकार का बोध करवाता होगा।

विधिमूलक भाव का साधारण अर्थ 'इच्छा' है जिसके अन्तर्गत लोट्, लेट्, विधिलिङ् के अर्थ भी समाविष्ट हो जाते हैं। वैदिक भाषा में इसका प्रयोग निम्न अर्थों में हुआ है–

1. विधिमूलक भाव प्रायः वक्ता की इच्छा की अभिव्यक्ति करता है। उत्तम पुरुष में केवल इच्छा की ही अभिव्यक्ति होती है। यथा– **विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम्** अर्थात् मैं विष्णु के वीरकर्मों को कहूँ। इसमें वक्ता की इच्छा है मध्यम पुरुष में यह प्रार्थना की अभिव्यक्ति करता है। जैसे– **अद्या नो देव सावीः सौभगम्** (हे देव! आज सौभाग्य

उत्पन्न करो) जबकि प्रथम पुरुष में इच्छा या आज्ञा व्यक्त होती है। जैसे—से मां वेतु वषट्कृतिम् (वह इस वषट्कृति के पास आए)।

2. विधिमूलक लेट् लकार की भाँति कहीं-कहीं भविष्यत् काल तथा प्रश्नवाचक के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। यथ—"को नु मह्या आदितये पुनर्दात् (आदिति के लिए मुझे पुनः कौन प्रदान करेगा)? यहाँ भविष्यत् के साथ-साथ प्रश्न भी है।

3. 'मा' का प्रयोग नकारात्मक अर्थ में विधिमूलक भाव के साथ ही होता है। 'मा' के साथ-साथ 'न' का प्रयोग भी हो जाता है। जैसे—'मा न इन्द्र परा वृणक्'। यहाँ विधिमूलक भाव का प्रयोग 'मा' के साथ हुआ है जबकि 'यम् आदित्या अभिद्रुहो रक्षथा नेम् अघं नशत्' में इसका प्रयोग 'न' के साथ हुआ है।

इसी कारण लौकिक संस्कृत में विधिमूलक भाव का प्रयोग 'मा' के साथ ही होता है। लौकिक संस्कृत में इसके रूप भूतकाल के समान ही होते हैं, केवल प्रारम्भ में अट् का आगम नहीं होता। जैसे भवतम् (अभवतम् के स्थान पर) भवेथाः (अभवेथाः के स्थान पर) कार्षीः (अकार्षीः के स्थान पर) तथा गमत् (अगमत् के स्थान पर)।

पाणिनि ने इस भाव को अलग नहीं माना है। केवल 'न माङ्योगे' सूत्र से लौकिक संस्कृत में लुङ्, लङ्, लृङ् में आने वाले 'अट्' का निषेध 'मा' के योग में कर दिया है। परन्तु समस्या यह है कि वैदिक भाषा में 'मा' के न होने पर भी अट्, आट् का लोप 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' से हो जाता है। इस प्रकार इस नियम से सिद्ध होने वाले सभी रूप लुङ् अथवा लङ् के ही हैं। पाश्चात्य विद्वानों का भी यही मत है।

विधिमूलक भाव प्रायः लेट् और लोट् के अर्थ को ही प्रकट करता है। रूप की दृष्टि से लेट् लकार के अट् प्रत्यय वाले रूप इससे मिलते जुलते हैं। जैसे गमत्। अतः जहाँ अर्थ की दृष्टि से विधिमूलक भाव कालवाची अर्थ देते हैं अर्थात् लेट् और लोट् के अर्थ को प्रकट करते हैं, वहाँ उन्हें पहचानने में समस्या नहीं होती।

卐 卐 卐

पाठ १८

वैदिक व्याकरण

भारतीय परम्परा संहितापाठ को मौलिक मानती है। 'संहिता' का अर्थ है सन्धि। पाणिनि ने कहा है—परः सन्निकर्षः संहिता—अर्थात् दो स्वरों या व्यञ्जनों का व्यवधानरहित सामीप्य संहिता कहलाता है। कुछ विद्वान् पद को मूल मानते हैं। निरुक्त के टीकाकार—दुर्गाचार्य निरुक्त के पदप्रकृतिः संहिता को आधार बनाकर इस विषय की चर्चा के दो पक्ष प्रस्तुत करते हैं। एक पक्ष के अनुसार पद मौलिक है, दूसरे पक्ष के अनुसार संहिता मौलिक है। प्राचीन भाष्यकार उव्वट पद को मौलिक मानते हैं। पाश्चात्य विद्वान् भी पद को मूलप्रकृति मानते हैं। अतः संहिता एवं पद के मूलप्रकृतित्व के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है।

वैदिक स्वरसन्धि

वैदिक स्वरसन्धि कुछ भेदों को छोड़कर संस्कृत स्वर सन्धि के समान है। ऋक्प्रातिशाख्य के आधार पर इन सन्धियों के नाम केवल भिन्नता रखते हैं।

प्रश्लिष्ट सन्धि [सवर्ण दीर्घ]

(i) अ इ उ ऋ लृ ह्रस्व अथवा दीर्घ के बाद सस्थान स्वर आने पर दीर्घ सन्धि।

[पाणिनि—अकः सवर्णे दीर्घः]

उदाहरण—

इह+अस्ति=इहास्ति
स्रुचि+इव=स्रुचीव
सु+उक्तम्=सूक्तम्

(ii) अ या आ से परे इ, उ होने पर क्रमशः ए, ओ गुण सन्धि होती है।

[पा०—अदेङ् गुणः ; आद्गुणः]

उदाहरण—

इह+इह=इहेह
पिता+इव=पितेव
आ+उम=ओम

वैदिक व्याकरण में आ के पश्चात् ऋ होने पर ह्रस्व हो जाता है।

उदाहरण—

इन्द्रा+ऋभुभिः=इन्द्र ऋभुभिः
महा+ऋषिः=मह ऋषिः

कहीं-कहीं अ से परे ऋ होने पर अ को दीर्घ होता है।

उदाहरण—

[च+ऋक्=चा ऋक्]

आ के पश्चात् ऋ होने पर आ को अनुस्वार (आँ) हो जाता है।

उदाहरण—

विभ्वा+ऋभु=विभ्वाँ ऋभु

(iii) अ या आ से परे ए ऐ एवं ओ औ को वृद्धि सन्धि।

[पा०—वृद्धिरादैच्, वृद्धिरेचि]

उदाहरण—

आ+एभिः=ऐभिः
सोमस्य+औशिजः=सोमस्यौशिजः

कहीं-कहीं अ आ से परे ए या ओ होने पर अ आ के स्थान पर अनुस्वार (अँ आँ) हो जाता है।

उदाहरण—

अभिमन्त+एवैः=अभिमन

कभी कभी वृद्धि के स्थान पर गुण होता है।

उदाहरण—

उप+एतन=उपेतन

श्लिष्टसन्धि— [यण् सन्धि]

इ उ ऋ लृ लघु या दीर्घ के पश्चात् असवर्ण अच् होने पर यण् (य् व् र् ल्) हो जाते हैं।

[पा०—इको यणचि]

उदाहरण—

प्रति+आयम्=प्रत्यायम्
वि+उषाः=व्युषाः

अभिनिहित सन्धि [पूर्वरूप सन्धि]

(i) ए और ओ से परे अ होने पर अभिनिहित या पूर्वरूप सन्धि होती है।

[पा०—एङः पदान्तादति]

उदाहरण—

सूनवे+अग्ने=सूनवेऽग्ने

पाद के मध्य कहीं-कहीं पर पदादि के अ में प्रकृति भाव होता है।

उदाहरण—

देवासो+अप्तुरः=देवासो अप्तुरः
शिक्षन्तो+अव्रतम् शिक्षन्तो अव्रतम्

(ii) ए ऐ से परे स्वर होने पर ए ऐ का परिवर्तन अ आ में हो जाता है।

उदाहरण—

सर्तवै+आजौ=सर्तवा आजौ

उद्ग्राह सन्धि [अयादि सन्धि]

ए ओ और ऐ औ से परे अ से भिन्न स्वर होने पर क्रमशः अय् अव् आय् आव् होते हैं।

[पा०—एचोऽयवायावः]

उदाहरण—

इन्दो+इन्द्राय=इन्दविन्द्राय
उभौ+इन्द्राग्नी=उभाविन्द्राग्नी

लोपः शाकल्यस्य के अनुसार अय् अव् आय् आव् के य् व् का लोप होता है। पाणिनि ने **पूर्वत्रासिद्धम्** के माध्यम से य् व् के लोप को असिद्ध मानकर लोप के पश्चात् सन्धि का निषेध किया है।

उदाहरण—

तस्मै + इन्द्राय—(ऐ के स्थान पर आय्)
तस्म् + आय् + इन्द्राय (लोपः शाकल्यस्य के अनुसार य लोप)
तस्मा + इन्द्राय, सन्धि निषेध
तस्मा इन्द्राय

सन्धि का अभाव [Hiatus]—[प्लुत और प्रगृह्य]

[पा०—प्लुतप्रगृह्य अचि नित्यम्]

निम्नलिखित स्थलों में सन्धि नहीं होती—

1. तितउ, प्रउग आदि शब्दों में
2. समासयुक्त शब्द जैसे—गोओपशा, गोऋजीक, पुरएता, नमउक्ति।
3. पाद के अन्तर्गत—

(i) द्विवचनान्त ई, ऊ, ए के उपरान्त

[पा०—ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्]

उदाहरण—

रोहसी + उभे = रोहसी उभे

(ii) ओ, अस्मे, युष्मे, त्वे, अमी, और उँ पदों पर

उदाहरण—

अस्मे + आ = अस्मे आ
उँ + इति = उँ इति

(iii) निपात उ के पूर्व इ के आने पर 'इ' 'य' में परिणत हो जाती है अथवा सन्धि का अभाव होता है।

उदाहरण—

प्रति + उ + अर्दथि = प्रत्यु अर्दथि, प्रति उ अर्दथि

(iv) एक बार सन्धि हो जाने पर दूसरी बार सन्धि की स्थिति में।

उदाहरण—

तस्मै + इन्द्राय
तस्माय् + इन्द्राय—यलोप
तस्मा + इन्द्राय = तस्मा इन्द्राय

4. पादान्त में यदि यति (Pause) न हो तब—

अ अथवा आ + ए ओ के आने पर

उदाहरण—

उपस्था + एका = उपस्था एका

5. पदान्त की 'इ' में

उदाहरण—

ऊती + अनूती = ऊती अनूती

विसर्ग सन्धि

1. विसर्ग के बाद च् छ् आने पर विसर्ग को श् एवं ट् आने पर विसर्ग को ष् होता है।

उदाहरण—

देवा: + चक्रम = देवाश् चक्रम

अग्नि: + टे (ते) = अग्निष्टे

2. अकारान्त पद अथवा 'वास्तो:' के विसर्ग के उपरान्त पति शब्द आने पर विसर्ग ष् में परिवर्तित होता है।

उदाहरण—

वास्तो: + पति = वास्तोष्पति

3. 'इलाया:' या 'गा:' के बाद पद शब्द आने पर विसर्ग स में परिवर्तित होता है।

उदाहरण—

इलाया: + पद = इलायास्पद

ऋक्प्रातिशाख्य में पूर्वोक्त विसर्ग सन्धि को उपाचरित कहा गया है।

4. उषस् के साथ यदि 'बुध्' या 'वसु' उत्तरपद के रूप में हो तो 'उषस्' का विसग रेफ में परिवर्तित होता है।

उदाहरण—

उषस् + बुध् = उषर्बुध्, उषर्भुत्

उषस् + वसु = उषर्वसु

5. विसर्ग के उपरान्त श् ष् स् आने पर विसर्ग अथवा श् ष् स् हो जाते हैं (विकल्प)

उदाहरण—

नि: + षिष्वरी = निष्षिष्वरी अथवा नि:षिष्वरी परवर्ती श् ष् स् से परे यदि अघोष स्पर्श आये तो विसर्ग लोप होता है।

उदाहरण—

मन्दिभि: + स्तोमेभि: = मन्दिभि स्तोमेभि:

6. विसर्ग के उपरान्त क ख आने पर विसर्ग को जिह्वामूलीय और प फ आने पर उपध्मानीय होते हैं।

उदाहरण —

विष्णो: + कर्माणि = विष्णो‿कर्माणि

इन्द्र: + पञ्च = इन्द्र‿पञ्च

7. पदान्तीय अ के उपरान्त विसर्ग से परे क् या प् हो तो विसर्ग स् में अन्यथा ष् में परिवर्त्तित होता है।

उदाहरण—

दिव: + परि = दिवस्परि

द्यौ: + पिता = द्यौष्पिता

8. अ के पश्चात् आने वाले विसर्ग से परे अ होने पर विसर्ग के स्थान पर ओ होता है।

उदाहरण—

य: + अस्मै = यो अस्मै

परन्तु अ से भिन्न स्वर आने पर विसर्ग लोप होता है।

उदाहरण—

य: + इन्द्र य इन्द्र

9. आ के पश्चात् आने वाले विसर्ग के परे स्वर होने पर विसर्ग लोप होता है।

उदाहरण---

सुता: + इमे = सुता इमे

10. अ आ से भिन्न स्वर के उपरान्त विसर्ग से परे स्वर या घोष व्यञ्जन होने पर विसर्ग को 'र' हो जाता है।

उदाहरण—

ऋषिभि: + ईड्य: = ऋषिभिरीड्य:।

11. विसर्ग जिसकी उत्पत्ति 'र' से हुई है, के पश्चात् यदि 'र्' आये तो विसर्ग लोप एवं पूर्ववर्त्ती स्वर को दीर्घ होता है।

उदाहरण--

पुन: (पुनर्) + रूपाणि = पुना रूपाणि
[पा०—रोऽरि, ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण:]

12. ऋग्वेद में 'स:' की प्राय: सन्धि होती है।

उदाहरण—

सः + औषधी: = सौषधी:।

स्य: के उपरान्त हल् आने पर स्य: के विसर्ग का लोप होता है।

उदाहरण— एष स्य भानु:
[पा०—स्यश्छन्दसि बहुलम्]

न् का मूर्धन्य ण्

1. ऋ, र्, ष् से परे न् का ण् होता है।

उदाहरण— पितृ + नाम् = पितृणाम्
पूर् + न = पूर्ण
[पा.—रषाभ्यां नो ण: समानपदे]

2. स्वर, अन्त:स्थ, आ और नुम् के व्यवधान होने पर भी न् को ण् होता है।

उदाहरण— अर्केण गृभ्णाति।
[पा०—अटकुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि]

3. परि, प्र, परा, रक्षा, शिक्षा आदि शब्दों में निमित्त होने पर न को ण् होता है।

उदाहरण— परि + न: = परि ण:
मो + सु + न: = मो षु ण:
[पा०—नश्चधातुस्थोरुषुभ्य:, उपसर्गाद्बहुलम्]

4. प्र, परा, निर्, दुर्, परि उपसर्गों के निमित्त रहने पर न को ण।

उदाहरण— परि + नीयते = परिणीयते
[पा०—उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य]

5. पूर्वपद में निमित्त होने से और उत्तरपद में यान, वाहन, मनस्, नौ, घन, अयन और नवति पदों के रहने पर न् को ण् होता है।

उदाहरण— पितृ + यानम् = पितृयाणम्।

स् को षत्व

1. अ आ से भिन्न स्वर, रेफ या क के पश्चात् आने वाले स् का ष् हो जाता है।

उदाहरण— अग्नि+सु=अग्निषु

[पा०—इण्वोः आदेशप्रत्यययोः]

2. अभि, उ, ऊ, दि, नि, नु, नू एवं हि आदि के पश्चात् अस् के सकारादिरूप अथवा सु, सः, स्वः, सीम्, स्म, स्विद् आदि के पदादि स् का ष् होता है।

उदाहरण— अभि+सु+नः= अभी षु णः।

भी+सधस्था=भी षधस्था

3. अनु, अभि, अति, प्रति, वि, नि, सु के निमित्त से स् का ष में परिवर्तन होता है।

उदाहरण— नि+सिञ्च=निषिञ्च

4. समास में पूर्वपद के अन्त में आने वाले इ ई, उ ऊ, ऋ,ए, ओ और र् के निमित्त से उत्तरपद के आदि स् का ष होता है।

उदाहरण— वेदि+सदे=वेदिषदे

अनुनासिक सन्धियाँ

1. पाद के अन्तर्गत और कभी-कभी पादान्त में 'आन्' के पश्चात् स्वर या अन्तःस्थ होने पर 'आन्' आँ में परिवर्तित होता है।

उदाहरण— जुजुर्वान्+यः=जुजुर्वाँ यः।

2. पाद के अन्तर्गत 'ईन्' 'ऊन्' के पश्चात् स्वर या य्, व्, ह् आने पर 'ईँ' 'ऊँ' हो जाता है।

उदाहरण— प्रधीन्+इव=प्रधीँरिव

पणीन्+हतम्=पणीहँतम् (ईं के साथ विसर्ग अपवाद रूप में)

3. संस्कृत में न् के पश्चात् तालव्य, मूर्धन्य एवं दन्त्य अक्षर आने पर वे क्रमशः श्, ष्, स् के रूप में परिवर्त्तित हो जाते हैं। वैदिक संस्कृत में इस प्रकार के कतिपय उदाहरण मिलते हैं।

उदाहरण— आवदन्+त्वम्=आवदँस्त्वम्

नॄन्+पात्रम्=नॄँः पात्रम्।

सुबन्त सन्धि

वैदिक भाषा में संस्कृत की भाँति तीन लिंग, तीन वचन और आठ कारक विभक्तियाँ मिलती हैं।

वैदिक संस्कृत में तीन वचनों की पुष्ट करने वाले दो सूत्र हैं—

1. छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम्—वेद में पुनर्वसू (द्विवचन) के स्थान पर एक वचन भी प्रयुक्त होता है। उदाहरण पुनर्वसु, पुनर्वसू।

विशाखयोश्च—विशाखा नक्षत्र के साथ भी वेद में एकवचन का प्रयोग होता है। उदाहरण —विशाखा, विशाखे।

अजन्त पुल्लिग उदाहरण—प्रिय

	एक०	द्वि०	बहु०
प्रथम	प्रियः	प्रियौ, प्रिया	प्रियाः, प्रियासः
द्वितीय	प्रियम्	,, ,,	प्रियान्
तृतीय	प्रियेण, प्रिया	प्रियाभ्याम्	प्रियैः, प्रियेभिः

पाणिनि ने इन रूपों की व्याख्या के लिए अपने सूत्रों में कुछ विशेष प्रत्ययों का निर्देश किया है।

सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्याजालः—सुपों के स्थान पर सु, सुलुक्, पूर्वसवर्ण, आ, आत्, शे, या, डा, ड्या, याच्, और आल् आदेश होते हैं।

आ, आल् और डा—आ एवं आल् में केवल शब्द भेद है। डा प्रत्यय में अंग की टि का लोप होता है।

या याच् ड्या—तीनों में 'या' शेष रहता है।

उदाहरण— प्रियौ, प्रिया—

प्रिय+औ—सुपां सुलुक्० से औ के स्थान पर आ—प्रिया

प्रियाः, प्रियासः—

प्रिय+जस् (अस्)—आज्जसेरसुक्—अर्थात् अदन्त शब्दों में असुक् का आगम।

प्रियासः

प्रियेण, प्रिया—

प्रिय+टा—पाणिनि 'इन्'—प्रियेण

प्रिय+टा—सुपां सुलुक्० आ आदेश

प्रिय+आ=प्रिया

प्रियैः, प्रियेभिः

प्रिय+भिस्—पाणिनि अतो भिस् ऐस्—प्रियैः

प्रिय+भिस्—बहुलं छन्दसि—प्रियेभिः

विकल्प के कारण प्रियैः एवं प्रियेभिः यह दो रूप।

इकारान्त शुचि

	पुंल्लिग	स्त्रीलिंग
तृ० एक वचन	शुचिना, शुच्या	शुच्या, शुची, शुचि
सप्त० एक वचन	शुचा, शुचौ	शुचा, शुचौ

तृ० एक वचन स्त्री० शुची, शुचि, शुच्चा—

शुचि+टा—सुपा सुलुक्०—पूर्वसवर्ण—

शुची।

शुचि+टा—सुपां सुलुक्० 'टा' का लोप—

शुचि।

शुचि+टा=शुचि+आ—यण् सन्धि—

शुच्या।

तृ० एक वचन पु० शुचिना, शुच्या—

शुचि+टा—पाणिनि—शेषोऽघ्यसखि—घिसंज्ञा—
आङो नाऽस्त्रियाम्—ना का आगम

शुचि+ना=शुचिना। दूसरे पक्ष में—

शुचि+आ=शुच्या।

स० एक वचन — शुचा, शुचौ—शुचि+ङि—सुपां सुलुक्०ङि के स्थान में डा शुचि+डा (आ) टि लाप
शुच्+आ=शुचा

उकारान्त मधु

प्र० बहु०	मधव:, मध्व:
द्वि० ,,	मध्व:, मधू:—मधु+शस्—सुपां सुलुक्० पूर्वरूपेआदेश—मधू: ।
तृ० एक०	मधुना, मध्वा
च० ,,	मधवे, मध्वे
पं० ,,	मधो: मध्व: } पाणिनि—ङसिङसोश्च—पूर्वरूपेकादेश
ष० ,,	मधो: मध्व: }
स० ,,	मधौ, मधवि

शेष लौकिक वत्

पूर्वोक्त शब्द रूपों में एक पक्ष में क्षेप्र सन्धि एवं दूसरे पक्ष में गुण है। यहाँ घेर्ङिति (घिसंज्ञकस्य ङिति सुपि गुण:)—ङित् सुप् (ङे, ङसि, ङस् ङि) परे रहते घि [शेषोऽध्यसखि—अनदीसंज्ञौ ह्रस्वौ यौ इदुतौ तदन्तं सखिवर्जं घिसंज्ञं स्यात्] संज्ञक अंग को गुण होता है।

सखि शब्द—सखि शब्द के सशक्त अंग (सु, औ, जस्, अय्, औट्) में वृद्धि हो जाती है और रूप बनते हैं—सखा, सखायौ, सखाय: ।

प्रथमा द्वि०वचन—सखाया, सखायौ—सख्युरसम्बुद्धौ—णित्संज्ञा
अचोञ्णिति—वृद्धि—
सखायौ रूप बना ।
सखाय्+औ—सुपां सुलुक्० से औ के स्थान में आ—सखाय्+आ=सखाया ।

ऋकारान्त-पितृ

प्रथमा द्वि० } पितरा, पितरौ
द्वितीया द्वि० }

ओकारान्त गो

प्रथमा द्वि० } गावा, गावौ
द्वितीया द्वि० }

षष्ठी बहु. गवाम्, गोनाम्

आकारान्त स्त्रीलिंग—प्रिया

प्रथमा बहु० प्रिया:, प्रियास:

तृतीया एक प्रिया, प्रियया—प्रिय+आ—सुपां सुलुक्० पूर्वसवर्ण—प्रिया ।

इयङ् उवङ् स्थान तथा यण्

पाणिनि ने छन्दस्युभयथा कहकर भू और सुधी शब्दों में इयङ्, उवङ् एवं यण् के विकल्प का निर्देश किया है।

उदाहरण— विभू+अम्—यण्—विभ्वम्
विभू+अम्—उवङ्—विभुवम्
सुधी+औ—यण्—सुध्यौ
सुधी+औ—इयङ्—सुधियौ

इदम् पुंल्लिंग

प्रथमा द्वि०
द्वितीया द्वि० } इमा, इमौ—सुपां सुलुक्० 'इमा' में आ आदेश

तृतीया एक० अनेन, एना, बहु०—एभि:

चतुर्थी ,, अस्मै, इमस्मै

पञ्चमी ,, अस्मात्, आत्

षष्ठी ,, अस्य, इमस्य

सप्तमी ,, अस्मिन्, अयो:

कतिपय विशेष रूप

1. अप् के अकार का प्रथमा द्वितीय वचन एवं बहु वचन में दीर्घ होता है।
   उदाहरण—आप:, अद्भि:, अद्भ्य:

   [पा० अप्तृन्तृच्०] पूर्व प् का द्

2. दिव् के तीन अंगों में—द्यो, दिव, एवं द्यु में रूप उपलब्ध होते हैं।
3. दृगन्त, स्ववस, स्वतवस् इनके पश्चात् सु रहने पर नुम् का आगम।
   उदाहरण—ईदृङ्, स्ववान्
4. मास् शब्द के मकारादि विभक्तियों के रहने पर स् का द् में परिवर्तन।
   उदाहरण—माद्भि:, माद्भ्य:।
5. मत् और वत् प्रातिपदिकान्तों के सम्बोधन एक वचन में अन्तिम त् का रु (:) होता है।
   उदाहरण—भानुमत् से भानुम:
   मरुत्वतं=मरुत्व:
6. वेद में ष पूर्व में है जिसके ऐसे नकारान्त शब्दों की अच् उपधा का विकल्प से दीर्घ होता है।
   उदाहरण—ऋभुक्षन् से ऋभुक्षाणम् एवं ऋभुक्षणम्
   (द्वितीया एक वचन)

तिङन्त रूप

विकरणों एवं अंगों की दृष्टि से वैदिक संस्कृत में इतनी नियमितता नहीं है जैसी लौकिक संस्कृत में है। गण, विकरण, आगम और प्रत्ययों की दृष्टि से वैदिक संस्कृत अधिक समृद्ध है।

पाश्चात्य विद्वान दस लकारों का विभाजन कालवाची (Tense) और भाववाची (Moods) के अर्थ को दृष्टि में रखकर करते हैं। यह लोग लट् (Present) लङ् (Imperfect) लिट् (Perfect) लुङ् (Aorist) लृट तथा लट् (Future) को कालवाची मानते हैं और शेष पांच को भाववाची मानते हैं। ये हैं—द्योतक (Indicative) लेट् (subjunctive) आज्ञादि का अभिव्यञ्जक विधिमूलक भाव (Injunctive) लिङ् (optative) और लोट् (Imperative)। पाश्चात्यों के अनुसार यह भाववाची प्रत्यय लट्, लिट् और लुङ् के अंगों के साथ जुड़ते हैं। अर्थात् विभिन्न प्रकार के भाववाची तिङन्तों और विशेष प्रत्ययों को विशेष कालवाची अंगों से जोड़कर रूप निष्पन्न होते हैं।

पाणिनि के अनुसार इस प्रकार के विशेष अंग नहीं हैं, परन्तु धातु के साथ विशेष प्रत्यय जुड़ा हुआ है।

उदाहरण— भवति।

पाणिनि—भू+शप्+तिप्

पाश्चात्य—भव्+अति—भव् को लट् अंग माना गया है।

'अ' विशेष प्रत्यय है। 'ति' तिङन्त है।

गण विवेचन

पाणिनि ने विकरणों की कल्पना करके धातुओं का वर्गीकरण दस गणों में किया है। वे हैं-- भ्वादि अदादि, जुहोत्यादि, दिवादि, स्वादि, तुदादि, रुधादि, तनादि, क्र्यादि और चुरादि। पाश्चात्य विद्वान् गणों के आठ विभाग मानते हैं, जिनमें से दो भाग मुख्य हैं—

(1) वे धात्वंग जिनके अन्त में अ आता है और कोई अन्य परिवर्तन नहीं होता। वे हैं—

(i) भ्वादि। उदाहरण—जय्+अ+ति=जयति [पाणिनि-शप्]

(ii) तुदादि। उदाहरण—तुद्+अ+ति=तुदति [पाणिनि 'श' विकरण]

(iii) दिवादि। उदाहरण—दिव्+य=दीव्य+ति=दीव्यति

(2) वे धात्वंग जिनमें अंग और प्रत्यय में स्वरपरिवर्त्तन (Vowel gradation) होता है। इस वर्ग में वे शेष भाग आते हैं जिनमें 'नो' अथवा 'ना' विकरण जुड़ते हैं। इनके सशक्त या अशक्त अंग का परिवर्तन हो जाता है।

(iv) अदादि—धातु+विकरण

पाणिनि—शप् तत्पश्चात् उसका लोप

अद्+ति=अत्ति

(v) जुहोत्यादि—इस गुण में प्रत्यय द्वित्वात्मक धातु के साथ जुड़ते हैं और अंग में गुण की सम्भावना होती है।

उदाहरण—√हु से हु हु=जुहु=जुहो+ति=जुहोति

(vi) रुधादि—इस गण में अन्त्याक्षर से पूर्व 'न' जुड़ता है। पाणिनि 'श्नम्'।

उदाहरण—रुध्+ति=रुन्ध्+ति=रुणद्धि

(vii) स्वादि इस गण में नु अथवा गुणयुक्त नो विकरण।

पाणिनि—'श्नु' विकरण।

उदाहरण—सु+नु+ति=सुनोति

(viii) क्र्यादि—में 'ना' विकरण।

पाणिनि—'श्ना' विकरण।

उदाहरण—गृभ्+ना+ति=गृभ्णाति

(ix) तनादि और चुरादिगण—पाणिनि इन दो गणों को पृथक्-पृथक् मानते हैं। दोनों के लिए क्रमशः 'उ' और णिच् विकरणों का विधान करते हैं। पाश्चात्य विद्वान् प्रायः तनादिगण को स्वादि का ही भाग मानते हैं।

गण व्यत्यय

वैदिक संस्कृत में एक धातु अनेक गणों में प्रयुक्त होता था। इस कारण वैदिक भाषा अधिक समृद्ध थी। पाणिनि के कतिपय सूत्र वैदिक संस्कृत की इस विशेषता की ओर संकेत करते हैं—

1. छन्दसि लुङ्लङ्लृटः—तीनों लकारों के प्रयोग में पारस्परिक विनिमयात्मक प्रवृत्ति का परिचायक है।
2. बहुलं छन्दसि—इसका पूर्ववर्ती सूत्र है—अदिप्रभृतिभ्यः शप् अर्थात् अदादिगण के धातुओं में विकल्प से वेद में शप् का लोप।

उदाहरण—वृत्रं हनति (हन्ति के स्थान पर)

अहिः शयते (शेते)

पूर्वोक्त सूत्र में अनुवृत्ति जुहोत्यादिभ्यः श्लुः से आती है। अर्थ—जुहोत्यादिगण के धातुओं में 'श्लु' विकरण विकल्प से हो।

उदाहरण—दाति (दधाति के स्थान पर) जहाँ 'श्लु' न होगा वहाँ द्वित्व भी न होगा। जो धातु जुहोत्यादिगण का नहीं है, उनमें 'श्लु' हो कर द्वित्व होगा। उदाहरण—

विवष्टि (वष्टि के स्थान पर)

वित्रक्ति (वक्ति के स्थान पर)

3. व्यत्ययो बहुलम्—अनेक स्थलों पर इस सूत्र से भी गणव्यत्यय होता है।

प्रत्यय

पाणिनि लकार के 'ल' के स्थान पर तिप् तस् झि आदि प्रत्यय मानते हैं। अतएव लकारों और अंगों के अनुसार उनका परिवर्तन यथास्थान करते हैं। पाश्चात्य विद्वान् प्रत्ययों की दृष्टि से अंगों का दो भागों में विभाजन करते हैं।

(i) लिट् अंग

(ii) लिट् अंगों से भिन्न

मुख्यतः चार भाववाची तिङन्त इस प्रकार हैं—

लोट् (Imperative)

लोट् केवल आज्ञार्थक ही नहीं है वरन् इसके साथ इच्छा, अनुरोध, शिक्षा आदि का अर्थ भी जुड़ा रहता है।

उदाहरण—देवाँ इह आ वह (प्रार्थना)

अहेळमानो बोधि (इच्छा)

छिधि (आज्ञा)

1. पाणिनि 'सि' के स्थान पर 'हि' आदेश करते हैं और इसे अपित् मानते हैं [सेर्ह्यपिच्च] परन्तु वा छन्दसि से वेद में 'टि' को विकल्प से अपित् मानते हैं। अपित् पक्ष में ङिद्वत् होकर अंगों में गुणवृद्धि का निषेध हुआ। दूसरे पक्ष में गुण का विधान होता है।
   उदाहरण—गृभ्णाहि, गृभ्णीहि (अपित्)
2. श्रु, ऋणु, पृ, कृ, वृ इन धातुओं में हि के स्थान पर 'धि' आदेश और वह विकल्प से—वा छन्दसि से अङित् होगा।
   उदाहरण—युयोधि (पित्) युयुधि (अपित् एवं ङिद्वत्)
   इसी प्रकार श्रुधि, ऋणुधि, पूर्धि, कृधि, अपावृधि
   (पा०—श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि)
3. हलन्त धातुओं से परे 'श्ना' विकरण होने पर एवं उससे परे 'हि' होने पर 'श्ना' के स्थान पर 'शानच्' हुआ और अतो हेः से टि का लोप हुआ।
   उदाहरण—गृहाण—गृह्+श्ना+हि=
   गृह्+शानच् हि लोप=गृहाण।

4. 'हि' के स्थान पर 'आय्' (शायच्) प्रत्यय भी होता है।

(छन्दसि शायजपि)

उदाहरण—गृभाय—गृभ्+श्ना+हि=गृभ्+शायच्=गृभाय।

5. 'हि' के स्थान पर 'तात्' प्रत्यय।

उदाहरण—कृणुतात्, वित्तात्

(पा० तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्)

6. लोट् के मध्यम पु. बहुवचन में त के स्थान पर वेद में त, तनप्, तन और थन प्रत्यय होते हैं। तनप् और तन में केवल अंग भेद है। तन प्रत्यय के साथ अंग में गुण नहीं होता।

(पा० —तप्तनप्तनथनाश्च)

उदाहरण—त=जुहोत

तनप्=जुहोतन (हु+तनप्)

तन=इतन √इ+तन—गुण का अभाव

थन=यजिष्ठन

7. त के स्थान पर तात् प्रत्यय

(पा०—तस्य तात्)

उदाहरण—कृणुतात्, पुनीतात्।

विधिमूलक भाव (Injunctive Mood)

यह भाव प्रायः लेट् लोट और विधि लिङ् के भावों का अभिव्यञ्जक है। इसलिए इनको अर्थ की दृष्टि से इन भावों से पृथक् करना कठिन है।

(i) यह भाव वक्ता की इच्छा की अभिव्यक्ति करता है।

उदाहरण—विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम् (इच्छा)

अद्या नो देव सावीः (प्रार्थना)

(ii) प्रश्नात्मक वाक्यों में इस भाव का प्रयोग।

उदाहरण—को नो मह्या अदितये पुनर्दात्

(iii) नकारात्मक अर्थ में प्रयोग।

उदाहरण—यं आदित्या अभि द्रुहो रक्षथा नेम अघं नयत।

नकारात्मक अभिप्राय से 'मा' के प्रयोग के साथ—

उदाहरण—मा न इन्द्र परा वृणक्।

लौकिक संस्कृत में लुङ् लङ् लृङ् में आने वाले अट् और आट् का निषेध केवल 'मा' के योग में होता है। (पा०—न माङ्योगे) परन्तु वैदिक संस्कृत में 'मा' के विना अट् और आट् का लोप पाणिनि ने माना है। (पा०—बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि) इस नियम से सिद्ध होने वाले सब रूप लुङ् और लङ् के हैं।

विधिमूलक भाव और लेट्

वेद में विधिमूलक भाव और लेट् लकार को रूप और अर्थ की दृष्टि से पृथक् करना कठिन है। विधिमूलक भाव प्रायः उन्हीं अर्थों को अभिव्यक्त करते हैं, जिन्हें लेट् और लोट् लकार कहते हैं।

उदाहरण—गमत्—यह 'अगमत्' का विकृत रूप (अट्हीन) गमत् भी हो सकता है और लेट् का अट्युक्त रूप भी—उदाहरण—

गम्+अट्+ति=त्=गमत्

स्तोषाम्—'अस्तोषाम्' का अट्हीन रूप भी हो सकता है और स्तु+सिप्+आट्+मि+म्=स्तोषाम् रूप भी।

लेट् (Subjunctive Mood)

लेट् का प्रयोग लिङ् के अर्थ में होता है (लिङर्थे लेट्) इस लकार का मुख्यार्थ है "इच्छा की अभिव्यक्ति" लेट् में क्रियमाण कार्य की निष्पन्नता वक्ता के अधीन होती है। लिङ् कामना तक सीमित रहता है, क्रिया तक नहीं पहुँचता। निम्नलिखित अर्थ लेट् लकार में अभिहित होते हैं—

(i) वक्ता की इच्छाभिव्यक्ति लेट् में होती है और इसके साथ 'नु' 'हन्त' आदि का प्रायः प्रयोग होता है।

उदाहरण—प्र नु वोचा सुतेषु वाम्

(ii) अन्य के लिए प्रेरणात्मक इच्छा भी इसी भाव का क्षेत्र है।

उदाहरण—हनो वृत्रं जया आपः।

एवम्—स उ श्रवत्

पाणिनि ने उपसंवाद और आशंका में लेट् का प्रयोग बताया है—(उपसंवादाशंकयोश्च)

उदाहरण—अहमेव पशूनामीशे (उपसंवाद)

नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम (आशंका)

प्रेरणा, प्रार्थना, परामर्श, प्रश्नात्मक इच्छा आदि भी लेट् के मुख्य विषय हैं। कभी-कभी इन अर्थों में लोट् का प्रयोग भी होता है।

[पा०—लोट् च]

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार सशक्ताङ्ग के साथ लेट् के प्रत्ययों से पूर्व इसका विशेष आगम 'अ' जोड़ा जाता है। पाणिनि इसके विशेष आगम के लिए दो सूत्र देते हैं—

1. लेटोऽडाटौ—लेट् लकार में अट् और आट् का आगम होता है।

उदाहरण भव्+अट्+त्=भवत्
भव्+आट्+ति=भवाति

पित् होने के कारण इसके अंग में गुण हो सकता है पा०—सार्वधातुकमपित्

2. सिब्बहुलं लेटि—लेट् लकार में विकल्प से सिप् का आगम।

उदाहरण मन्दिवत्=मन्द्+इ+सिप् (स)+त्=मन्दिषत्।

वार्त्तिक—सिब्बहुलं णिद्वक्तव्यः—से सित् विकल्प से णित् होने के कारण अंग की वृद्धि हो सकती है।

उदाहरण तृ+इ+सिन् (णित्)=त्=तार+इस+त्=तारिणत।

प्रत्ययों के संदर्भ में पाणिनि ने कतिपय सूत्र दिए हैं—

(1) आत ऐ प्रथम पु० और मध्यम पु० आत्मनेपद द्विवचन में 'आ' को 'ऐ' आदेश।

उदाहरण मन्त्रयैते, मन्त्रयैथे।

(2) वैतोऽन्यत्र=लेट् लकार में ए के स्थान पर विकल्प से ऐ आदेश।

उदाहरण— ईशे, ईशै ।

(3) इतश्च लोप: परस्मैपदेषु—परस्मैपद में लेट् 'इ' का लोप ।

उदाहरण— जोषिषत्, तारिषत् । कहीं-कहीं पर यह लोप नहीं होता ।

भवाति, भवासि ।

(4) स उत्तमस्य—लेट् लकार में उत्तम पुरुष के स् का लोप ।

उदाहरण—भवाव, भवाम ।

लिङ् Optative या Potential

पाणिनि ने लिङ् का प्रयोग विधि, निमंत्रण, आमन्त्रण अधीष्ट, सम्प्रश्न और प्रार्थना अर्थों में बताया है ।

पा०—विधि निमंत्रणा मन्त्रणाधीष्ट सम्प्रश्न प्रार्थनेषु लिङ्

उदाहरण— विधेम ते स्तोमै:

सम्भावना के अर्थ में—

मीढ्वाँ अस्माकं बभूयात् ।

लङ् लकार

"यदि ऐसा हुआ तो ऐसा होता" इस प्रकार की परवर्त्ती भविष्यत् क्रिया का निमित्त यदि क्रिया में हो तो वह लृङ् कहलाता है। पाणिनि [लिङ् निमित्ते लङ् क्रियातिपत्तौ] इसका विशेष प्रत्यय 'स्य' भविष्यत्काल के समान होता है। पा०—स्यतासी लृलुटो: । इसमें आदि में अट् का आगम भूतकाल के समान होता है । उदा० अमरिष्यत् ।

कालवाची तिङन्त

वर्त्तमान—लट्

लट् का प्रयोग ऋग्वेद में भूतकाल के अर्थ में भी होता है । उदा०—अमुया शयानं अति यन्ति आप: ।

पूर्वोक्त में भूत के अर्थ में लट् का प्रयोग हुआ है ।

'पुरा' के साथ भूतकाल के अर्थ में वर्त्तमान का प्रयोग होता है ।

उदाहरण— सवावहे यद् वृकं पुराचित् । [जिसे हम अहिंसापूर्वक सेवन करते 'हैं' थे के अर्थ में]

'स्म पुरा' के साथ वर्त्तमान का प्रयोग भूतकाल का वाचक होता है ।

उदाहरण— सं होत्र स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति ।

(पा०-लट् स्मे अपरोक्षे च)

कहीं-कहीं लट् भविष्य या लेट् की भी अभिव्यक्ति करता है—

उदाहरण— अहमपि हन्मि इति होवाच ।

भूतकाल—लङ् लकार

पाणिनि वेद में सब कालों में लुङ् लङ् और लिट् के प्रत्यय मानते हैं—छन्दसि लुङ् लङ् लिट् ।

लङ् लकार अर्थ की दृष्टि से शुद्ध भूतकाल का वाचक है ।

उदाहरण— अहन् अहिम् ।

पाठ १६

लुङ् लकार

वैदिक संस्कृत में लुङ् का विस्तृत एवं वैविध्यपूर्ण प्रयोग मिलता है। लुङ् प्राय: भूत में घटित और वर्तमान में कही जाने वाली घटना का अभिव्यंजक है। इसके द्वारा अनद्यतन भूत की अभिव्यक्ति होती है। उदाहरण—

प्रति दिवो अदर्शि दुहिता।

लुङ् का विभाजन दो प्रकार किया जा सकता है।—

(i) स् आगमयुक्त लुङ्—पा०—सिच्

(ii) अ आगम युक्त लुङ्

1. स लुङ् [पा०—क्स]

(अ) द्योतकभाव—उदाहरण—अवृक्षम्— अ + √वृच् + स—(क्स) + म्।

(पा० शल इगुपधादनिटः क्सः)

2. स् लुङ् [पा०—सिच्]

पाणिनि इस लुङ् में च्लि (सामान्य प्रत्यय) के स्थान पर सिच् का विधान करते हैं। उदा०—

द्योतक भाव—अनैक्षीत्—अ + निज् = नैक + स् + ई + त्।

पाणिनि इसमें ईट् का आगम करते हैं।

(आ) लेट्भाव—स्तोषाणि—स्तु = स्तो + स् + आ = नि = स्तोषाणि। इसमें विशिष्ट आ का आगम लेट् का और अङ्ग (स् युक्त) लुङ् का वाचक है। पाश्चात्य विद्वान् इसमें स्तो + स् (लुङ्) + आ (लेट्) + नि मानते हैं। परन्तु पाणिनि इसमें शुद्ध लेट् रूप इस प्रकार मानते हैं—

स्तु = स्तो + सिप् (लेट्) + आट् (लेट्) + नि = स्तोषाणि।

(इ) विधिमूलक भाव - उदाहरण

स्तोषम्—स्तु = स्तो + स् + अम्।

पाश्चात्य विद्वान् 'स्तोषम्' को लुङ् लकार का विधिमूलक भाव (Injunctive Mood) मानते हैं। पाणिनि इसे लुङ् का रूप मानकर आदि अट् का लोप करते हैं।

(ई) लिङ्—भक्षीय

पाश्चात्य विद्वान्— भज् + स् (लुङ्) = भज् + स् + ईय् = भक्षीय।

लिङ् के विशेष प्रत्यय लुङ् के अङ्ग में विद्यमान रहने के कारण यह लुङ् के लिङ् भाव कहे जाते हैं। उदाहरण—मंसिष्ठाः (मुक्षीय)।

(उ) लोट् - उदाहरण—नेष - नी = ने + स् + अ = नेष

3. इष् लुङ् [पा०—इट् + सिच् = इष]

(i) द्योतक—उदाहरण अक्रमिषम—अ + क्रम् + इट् + सिच् + अम्।

(ii) लेट्—उदाहरण विविषाणि—विद् + इस् + आ + नि = विविषाणि।

पा०—विद् + इट् + सिप् + आट् + नि = विविषाणि।

(iii) विधिमूलक—उदाहरण शंसिषम्—शंस्+इस्+अम्। एवं तारीः, योधीः।

(iv) लिङ्—उदाहरण—एधिषीय—एध्+इष्+ईय ।

(v) लोट्—उदाहरण अविष्टम्, अक्रमीय्।

अ+क्रम्+इष्+ई+म्। पाणिनि—अ+क्रम्+इट्+सिच्+ईट+म

[पा०—इट ईटि—सिच-लोप]

4. सिष् लुङ् [पा०—सक्+इट्+सिच्=सिष्]

(i) द्योतक उदाहरण—अयासिषम्—अ+या+सिष्+अम्।

पा०–अ+या+सक्+इट्+सिच्+अम्।

(ii) लेट्—उदाहरण—यासिषत्।

(iii) लिङ् उदाहरण—यासिषीष्ठाः।

(iV) विधिमूलक उदाहरण—रेसिषम्

(v) लोट्—उदाहरण—यासिष्टम्।

धातु लुङ् (Root Aorist)

इस लुङ् में धातु के पश्चात् प्रत्यय लगता है। पाणिनि इस लुङ् में च्लि के स्थान पर सिच् कर के सिच् लोप मानते हैं। उदाहरण—अस्थात्—अ+स्था+त्

पा०—अ+स्था+सिच्+त्—सिच् लोप—अस्थात्।

(i) द्योतक—उदाहरण—अस्थात्, अस्थाम्।

(ii) लेट्—उदाहरण—करा, करोषि।

(iii) विधिमूलक—उदाहरण—करम् वर्धम्।

(iv) लिङ्—उदाहरण—देयाम्, गम्याः।

(v) लोट्—उदाहरण—कृधि, गतं, दातम्।

द्वित्वांग लुङ् (Reduplicated Aorist)

पाणिनि इस लुङ् में चङ् मानते हैं और चङि सूत्र से इसके अंग का द्वित्व करते हैं। पाश्चात्य विद्वान् भी अंग के आधार पर इसको द्वित्वांग लुङ् कहते हैं।

(अ) द्योतक—उदाहरण अजीजनम् (√जन्)

पाश्चात्य०—अ+जीजन्+अ+म्

पाणिनि—अ+√जन्+चङ् (अ)+म् चङि—से द्वित्व

(आ) लेट्—उदाहरण—तीतपासि, पस्पृशाति।

(इ) विधिमूलक—उदाहरण—वीवरम्

(ई) लिङ्—उदाहरण—बोधेयम्, रीरिषेः।

(उ) लोट्—उदाहरण—बोधतात्—जिगृतम्।

अङ् लुङ्—लुङ् का यह भेद लङ्लकार से मिलता है। इसमें प्रत्यय असहित और अरहित मिलते हैं। पाणिनि च्लि के स्थान पर अङ् का विधान करते हैं।

(अ) द्योतक—उदाहरण—अविदम्—अ+विद्+अ+म्

(आ) लेट्—उदाहरण—विदासि, विदाः।

(इ) विधिमूलक—उदाहरण—विदम्, विदः।

(ई) लिङ्—उदाहरण—विदेयम्, विदेः।

(उ) लोट्—उदाहरण—सद, सदतम्।

कर्मवाच्य लुङ्

कतिपय लुङ् लकार के अन्त में 'इ' प्रत्यय (चिण्) का प्रयोग होता है। प्रायः यह कर्मवाच्य का वाचक होता है। इसलिए पाश्चात्य विद्वान् इसे कर्मवाच्य लुङ् (Passive Aorist) कहते हैं।

उदाहरण—अकारि, अबोधि।

पाणिनि इसमें चिण् विकरण ला कर 'त' प्रत्यय परे होते हुए प्रत्यय का लोप करते हैं। (चिणो लुक्)

लिट् लकार

(1) लिट् का अर्थ वेद में पूर्ववर्त्ती क्रिया पर निर्भर होता है। 'पुरा' और 'नूनम्' के साथ इसका अर्थ क्रमशः भूत और वर्तमान का होता है। उदाहरण—

शश्वद्धि व ऊतिभिर्वयं पुरा नूनं बुभुज्महे (हम पूर्व भी अपनी रक्षा का सेवन करते थे और अब भी करते हैं)।

(2) लिट् का अर्थ वर्तमान जैसा भी होता है। उदाहरण—कश्चिकेत (कौन जानता है)।

(3) अनद्यतन के अर्थ में लिट् का प्रयोग होता है। उदाहरण—

पुत्रः कण्वस्य वामिह सुषाव सोम्यं मधु (कण्व के पुत्र ने तुम्हारे लिए मधु का सेवन किया है)।

(4) परोक्ष के अर्थ में लिट् का प्रयोग। उदाहरण—

इन्द्रश्च यद्युयुधाते अहिश्चोतापरीभ्यो मघवा वि जिग्ये।

(5) लिट् के अर्थ में लङ् का प्रयोग। उदाहरण—

अवासृजत् सर्तवे सप्त सिन्धून्

पाणिनि सब कालों में वेद में लुङ् लङ् और लिट् मानते हैं। छन्दसि लुङ् लङ् लिटः।

विशेष प्रत्यय

(i) 'इरे' प्रत्यय के स्थान पर वेद में 'रे' प्रत्यय भी होता है। उदाहरण—

दध्रे, नुनुद्रे।

(ii) √सृ के प्रथम पुरुष एकवचन में अभ्यास के 'अ' और वुक् के आगम का निपात हो जाता है। (पा०—ससूवेति निगमे)

विशेष अंग

(i) तन् और पत् धातुओं की उपधा का अजादि कित् अथवा ङित् प्रत्यय के परे होने पर लोप होता है।
उदाहरण—वितत्निरे, पप्तिम।

(ii) कुछ अङ्गों के अभ्यास को दीर्घ होता है। उदाहरण—दाधार, दीधाय।

(iii) वार्त्तिककार कात्यायन द्वित्व के विषय में वेद में विकल्प मानते हैं।
उदाहरण—जागार, दाति।

लिट् के भाव

(i) लेट्—उदाहरण—ततनः

पाणिनि—त+√तन्+अ (अट्)+सिप>स्>:=ततनः

जुजोषसि—जु+√जुष्+अट्+सिप्

यहां अङ्ग की दृष्टि से ये रूप लिट् वर्ग के हैं परन्तु अर्थ की दृष्टि से लेट् के।

(ii) विधिमूलक—उदाहरण—शशासः

(iii) लिङ्—उदाहरण—जगम्याम्

ज+√गम्+या (यामुट्)+म्

पूर्वोक्त उदाहरण में लिङ् का विशेष प्रत्यय 'या' जुड़ा है।

इसी प्रकार—बभूयाः।

(iv) लोट्—उदाहरण मुमुग्धि, शशाधि।

अद्युक्त लिट् (Pluperfect)

अर्थ की दृष्टि से यह लङ् के समान है। उदाहरण—सूर्यमजभर्तन (सूर्य को लाए)

कहीं कहीं आदि अट् का लोट्—उदाहरण—ममम: तस्तमत्।

लट् लकार

इस लकार का प्रयोग वेदों में कम होता है। वेद में लट् से ही भविष्य की अभिव्यक्ति की जाती है। उदाहरण—स्तविष्यामि त्वामहम्।

कहीं कहीं अथ के पश्चात् लट् का प्रयोग होता है। उदाहरण अथ वां वक्ष्यामि।

लुट् लकार

किसी विशेष घटना की भविष्य में विशिष्ट समय पर होने वाली अभिव्यक्ति के लिए लुट् का प्रयोग होता है। लुट् की अभिव्यक्ति के साथ प्राय: प्रात: और श्व: का प्रयोग होता है। उदाहरण—संवत्सरतमीं रात्रिमागच्छतात्

अवश्यम्भावी घटना के लिए भी लुट् का प्रयोग होता है। उदाहरण—सो एवाप्यतोऽधिभविता।

तुमर्थक (Infinitives) और त्वा, ल्यप् (Gerunds)

तुम्—(पा०—तुमुन्) 'तुम्' प्रत्यय का प्रयोग "करने के लिए" अर्थ में होता है। पाश्चात्य विद्वान् तुमुन् प्रत्ययान्त को 'तु' प्रत्ययान्त अङ्ग के द्वितीया एकवचन का रूप मानते हैं। पाणिनि ने तुमुन् के अर्थ में निम्नलिखित सूत्र दिया है—

तुमर्थे सेसेनसे-असेन्-क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः।

से—(पा०—से, सेन् क्से) से, सेन् और क्से प्रत्ययान्त शब्द में गुण और वृद्धि का अभाव होता है। उदाहरण—

से—वक्षे (√वच्+से)

सेन्—यक्षे (√यज्+से)

क्से—जिषे, स्तुषे (√जि, स्तु+क्से)

असे—(पा० असे, असेन्, कसेन्) कसेन् प्रत्ययान्त अंग में गुण नहीं होता। उदाहरण—

असे—चरसे, जीवसे।

असेन्—अयसे, चक्षसे ।

कसेन्—भियसे, वृधसे ।

(भियसे और वृधसे में गुण का अभाव)

अध्यै—(पा० अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन) नित् प्रत्ययान्त में आद्युदात्त होते है। कध्यै और कध्यैन् प्रत्ययान्त अङ्गों में गुण एवं वृद्धि नहीं होती। उदाहरण—

अध्यै—चरध्यै, तरध्यै ।

अध्यैन—गमध्यैं

कध्यै—इयध्यै (√इ से गुण न होकर इयङ् आदेश)

कध्यैन्—क्षियध्यैं

शध्यै—पिबध्यै (पा० पाघ्राध्मा० से पा के स्थान में पिब्)

तवै—एतवै, पातवै

तवे—(पा० तवेङ्, तवेन्) तवेङ् प्रत्ययान्त में गुण का अभाव और तवैन् प्रत्ययान्त में आद्युदात्त। उदाहरण—

तवेङ्—सूतवे

तवेन्—अत्तवे, कर्त्तवे (आद्युदात्त)

निम्नलिखित दो सूत्रों में पाणिनि ने कुछ शब्दों के निपात माने हैं—

(1) प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै—तुम् के अर्थ में इन शब्दों का निपात होता है। उदाहरण—

प्रयै—प्र + √या + कै प्रत्यय (प्रयातुम् के स्थान पर)

रोहिष्यै—रुह + इष्यै प्रत्यय (रोढुम् के स्थान पर)

अयथिष्यै—अ + व्यथ् + इष्यै (संस्कृत-अव्यथनाय)—

(2) दृशे विख्ये च—इन दो शब्दों का भी तुमर्थ में निपात। उदाहरण—

दृशे—दृश् + के प्रत्यय (संस्कृत-द्रष्टुम्)

विख्ये—वि + ख्या + के प्रत्यय (विख्यातुम्)

निम्नलिखित सूत्रों में पाणिनि ने विशेष उपपद होने पर और विशेष अर्थों में कुछ प्रत्ययों को माना है।

(1) ईश्वरे तोसुमकसुनौ—ईश्वर शब्द के उपपद होने पर धातु के साथ तोसुन् और कसुन् प्रत्यय जुड़ते हैं। उदाहरण—विक्षोब्धोः—वि + क्षुभ + तोसुन्

कसुन् प्रत्यय होने पर गुण का अभाव होता है और धातु को आद्युदात्त होता है। उदाहरण—

आतृदः—आ + √तृद् + कसुन्। इसी प्रकार—

अवपदः—अव + √पद् + कसुन्

(2) शकि णमुल्कमुलौ—शक् के उपपद होने पर तुमुन् के अर्थ में कमुल (अम्) और णमुल् (अम्) प्रत्ययों का प्रयोग होता है।

उदाहरण—देवा विभाजं नाशक्नुवन्।

वि + √भज् + णमुल ।

(3) भावलक्षणे स्थेण्कृञ्वदिचरिहुतमिजनिभ्यस्तोसुन्—स्था, इण्, कृ, वदि, चरि, हु, तमि, जनि भाव लक्षण में विद्यमान इन धातुओं से तुम् के अर्थ में तोसुन् प्रत्यय होता है। उदाहरण—

एतोः, कर्त्तोः, जनितोः ।

मध्दा कर्त्तोः वितत्तं संजभार ।

(4) सृपितृदोः कसुन्—वेद में भावलक्षण सृप और तृद् धातुओं से तुमर्थ मे कसुन् प्रत्यय होता है। उदाहरण—

आतृदः—आ + √तृद् + कसुन्

विसृपः—वि + √सृप् + कसुन्

पाश्चात्य विद्वानों के मत में तुम् तवे और तोः (गन्तुं, गन्तवे और गन्तोः) प्रत्यय न होकर विधिवत् 'तु' अङ्ग के द्वितीया, चतुर्थी और पञ्चमी तथा षष्ठी के विभक्ति प्रत्यय हैं। उनके अनुसार गम् धातु से कृदन्त का 'तु' प्रत्यय जुड़कर 'गन्तु' प्रातिपदिक बनता है और उसके विभक्त्यन्त रूप हैं शेष तुमर्थक। तुमर्थक प्रत्ययों का वर्गीकरण पाश्चात्यों ने द्वितीयान्त, चतुर्थ्यन्त पञ्चमी और षष्ठ्यन्त तथा सप्तम्यन्त विभक्तियों के आधार पर किया है।

प्रत्ययों और अङ्गों के आधार पर तुमर्थकों का वर्गीकरण इस प्रकार है—

द्वितीयन्त—ये शब्द दो भागों में विभाजित किए जा सकते हैं—

(1) **अम्**—जिन शब्दों के अन्त में 'अम्' प्रत्यय होता है। पाणिनि के अनुसार ऐसे प्रत्यय के लिए वृद्धि वाले अङ्गों में णमुल् और गुणहीन अङ्गों में कमुल प्रत्यय है। उदाहरण—

समिधम्—सम् + √इन्ध् = समिध् = द्वितीया एकवचन रूप।

(2) तुम्—(पाणिनि के अनुसार तुमुन् प्रत्यय) उदाहरण—

अत्तुम्—√अद् + तु—अत्तु—द्वितीया एकवचन = अत्तुम्।

इसी प्रकार—कर्त्तुम्।

चतुर्थ्यन्त

(1) ए धातु से बने अङ्ग के साथ प्रत्यय जोड़कर निम्न प्रकार के रूप बने हैं—

दृशे—√दृश् + ए

भुजे—√भुज् + ए

युध्—√युध् + ए

(पाणिनि के द्वारा विहित दशे, विख्ये निपात इसी वर्ग के हैं)

पाणिनीय पद्धति में ऐसे शब्दों को क्विवन्त शब्दों के चतुर्थी एकवचन के रूप में माना जाता है। पाणिनि सब धातुओं के साथ क्विप् प्रत्यय का विधान करते हैं।

(2) ऐ—प्रायः आकारान्त धातुओं से परे 'ए' प्रत्यय आने पर ऐकारान्त रूप बनते हैं। उदाहरण—

प्रयै—प्र + √या + ए

विख्यै—वि + √ख्या + ए

प्रतिमै—प्रति √ + मा + ए

(पाणिनि के द्वारा विहित प्रयै रोहिष्यै इसी वर्ग के हैं)

(3) से—पाणिनि के से, सेन् क्से ये शब्द सकारान्त अङ्गों के चतुर्थ्यन्त रूप हैं। उदाहरण—

जिषे—√जि + स् = जिष् + चतुर्थी एकवचन—जिषे

यक्षे—√यज् + स् + यक्ष् + चतुर्थी एकवचन—यक्षे

(4) **असे**—(पाश्चात्यों के अनुसार यह प्रत्यय धातु के साथ अस् प्रत्यय जोड़कर चतुर्थ्यन्त में निष्पन्न होता है। स्वर और अंग को दृष्टि में रखते हुए पाणिनि ने असे, असेन् और कसेन् यह तीन प्रत्यय माने हैं। उदाहरण

अर्हसे—√अर्ह+अस्=अर्हस्+चतुर्थी एकवचन

राजसे—राज्+अस्=राजस्+चतुर्थी एकवचन

(5) **अये**—इस प्रत्यय वाले शब्द धातु के साथ 'इ' प्रत्यय जुड़कर बने हुए प्रातिपदिकों के चतुर्थी एकवचन रूप हैं। उदाहरण—

दृशये—दृश्+इ=दृशि+चतुर्थी एकवचन—दृशये, महये।

(6) **तये**—√धातु के साथ 'ति' प्रत्यय जुड़कर चतुर्थी एकवचन में 'तये' तुमर्थक बनता है। उदाहरण—

इष्टये—√इष्+ति=इष्टि+चतुर्थी एक वचन

पाणिनि पूर्वोक्त शब्दों में क्तिन् प्रत्ययान्त के चतुर्थी एकवचन रूप मानते हैं। इसी प्रकार—

ऊतये—अव+ति=ऊति+चतुर्थी एकवचन

पीतये—√पा+ति=पीति+चतुर्थी एकवचन

(7) **तवे**—पाणिनि इसके लिए दो प्रत्यय—तवेङ् और तवेन् का विधान किया है। उदाहरण

सूतवे—√सू+तु+चतुर्थी एकवचन

अत्तवे—√अद्+तु+चतुर्थी एकवचन

गन्तवे—√गम्+तु+चतुर्थी एकवचन

(8) **तवै**—(पाणिनि के अनुसार तवै प्रत्यय) उदाहरण

एतवै—√ई+तवा=एतवा+चतुर्थी एकवचन

मन्तवै—√मन्+तवा=मन्तवा+चतुर्थी एकवचन

(9) **अध्यै**—उदाहरण

चरध्यै—√चर्+अ+धि=चरधि+चतुर्थी एकवचन

तरध्यै, पिबध्यै

पञ्चम्यन्त—अस् और तोस् प्रत्ययान्त तुमर्थक पञ्चम्यन्त और षष्ठ्यन्त माने जाते हैं।

1. **अस्**—उदाहरण

आतृदः—आ+√तृद्+अस्

(पाणिनि कसुन् प्रत्यय)

2. **तोस्**—पाश्चात्य 'तु' अङ्ग से पञ्चमी और षष्ठी में रूप को तोस् प्रत्ययान्त मानते हैं। उदाहरण

एतोः √ई+तु=एतु+पञ्चमी या षष्ठी एकवचन

गन्तोः।

(पाणिनि के अनुसार ईश्वर उपपद होते हुए तोसुन् प्रत्यय)

सप्तम्यन्त - इस वर्ग में आने वाले तुमर्थकों का विभाजन इस प्रकार है—

(1) हलन्त अङ्गों में सप्तम्यन्त। उदाहरण

सञ्चक्षि—सम्+√चक्ष्+सप्तमी एकवचन

बुधि—√बुध्+सप्तमी एकवचन

(पाणिनि के अनुसार धातु से क्विप् प्रत्यय जुड़कर यह रूप बने हैं)

(2) 'तृ' अङ्ग से। उदाहरण —

धर्तरि—धृ+तृ+सप्तमी एकवचन

(3) सन् प्रत्ययान्त से। उदाहरण

नेषणि—√नी=ने+सन्=षण्=नेषण्+सप्तमी एकवचन

इसी प्रकार पर्षाण, शूषणि।

त्वार्थक शब्द (Gerunds)

एक वाक्य में समान कर्त्ता वाले दो अथवा अधिक धातुओं के प्रयोग होने पर पूर्व क्रिया की निष्पन्नता पर उत्तर क्रिया यदि निर्भर हो तो पूर्ववर्ती क्रिया की अभिव्यक्ति 'क्तवा' प्रत्यय जोड़कर की जाती है :

(पाणिनि – समानकर्तृकयोः पूर्वकाले) उदाहरण—

यो हत्वाहिमरिचात् सप्तसिन्धून्

पाणिनि के अनुसार नञ् से भिन्न समास के पूर्ववर्त्ती होने पर 'क्तवा' के स्थान पर 'य' (पा० —ल्यप्) और ह्रस्व अंग से परे 'त्य' प्रत्यय होता है। उदाहरण—

निषद्य, आरभ्य

ल्यप् का दीर्घ —कुछ वैदिक शब्दों में अन्त्य अकार को दीर्घ होता है। उदाहरण—

आवृत्या, निषद्या।

ल्यप् का अपवाद —समास पूर्व होने पर वेद में 'त्वा' प्रत्यय भी होता है।

उदाहरण—परिधापयित्वा।

'त्वा' और 'त्य' के अतिरिक्त वेद में निम्नलिखित अन्य प्रत्यय भी होते हैं।

त्वाय —(पाणिनि के अनुसार क्तवा प्रत्यय को यक् का आगम)

उदाहरण—गत्वाय, दत्वाय।

(2) **त्वी** —त्वा के अर्थ में त्वी का प्रयोग। उदाहरण—

कृत्वी, जनित्वी

(3) **त्वीनम्** —पाणिनि ने इष्टवीनम् शब्द को इष्ट्वा के अर्थ में निपात माना है। इसी प्रकार पीत्वीनम् पीत्वा के स्थान पर है।

(4) पाणिनि के अनुसार णमुल समास में या पूर्ववर्त्ती शब्द विद्यमान होने पर होता है। यह 'त्वा' से मिलते जुलते अर्थ को अभिव्यक्त करता है। उदाहरण—

"तन्त्रमेते युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम्।" यहां पर "अभ्याक्राममम्" 'आती हुई' के यौगपद्य को अभिव्यक्त करता है।

वैदिक स्वर

ऋग्वेद में तीन स्वर है—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। पाणिनि के अनुसार—उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः और समाहारः स्वरितः है। तालु आदि उच्च स्थानों से उच्चार्यमाण उदात्त, निम्न स्थानों से उच्चार्यमाण अनुदात्त और आधे-उदात्त और शेष अनुदात्त का समाहार स्वरित है। ऋक्-प्रातिशाख्य (117) के अनुसार पूर्वोक्त तीन स्वरों को क्रमशः आयाम (Tension of vocal muscles) विश्रम्भ (Relaxatin) एवं आक्षेप (gerky movement) कहा जा सकता है। उदात्त चिह्नरहित होता है। अनुदात्त में अक्षर के नीचे तिरछी रेखा अंकित होती हैं। स्वरित में अक्षर के ऊपर खड़ी सीधी रेखा अंकित होती है।

उदात्त के पश्चात् परतन्त्र स्वरित आता है—उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः। जहाँ सन्धिनियम के कारण पूर्ववर्ती उदात्त लुप्त हो जाता है वहां स्वतन्त्रस्वरित होता है। उदाहरण—

क्वेत्=क्व+इत् (अ+इ का प्रश्लेष)। यहाँ पूर्ववर्ती उदात्त 'क्व' स्वतन्त्र स्वरित बन गया। अभिनिहित क्षैप्र और प्राश्लिष्ट सन्धियों के कारण जात्य स्वरित की उत्पत्ति होती है। जात्य स्वरित प्रायः उदात्त+स्वरित (दोनों का मिश्रण) होता है। उदाहरण स्वर्णरि, कन्यासु।

कम्प—स्वतन्त्र स्वरित के पश्चात् यदि उदात्त हो और स्वरित का अच् यदि ह्रस्व हो तो १ का चिह्न अंकित होता है स्वरित का अच् दीर्घ होने पर 3 चिह्न लगता है। क्रमशः उदाहरण हैं—वीर्यं १ मिन्द्र, तथा तन्वा 3 संवदे। परन्तु यदि स्वतन्त्र स्वरित के बाद उदात्त न हो तो पूर्वोक्त चिह्न नहीं लगते। उदाहरणार्थ वीर्याणि। पूर्वकथित कम्प का कारण यह है कि स्वतन्त्र स्वरित का उदात्तांश आगामी उदात्त के आने के कारण अर्द्ध अनुदात्त में परिणत करना पड़ता है। इस प्रक्रिया में उदात्त स्वर को अनुदात्त में परिवर्तित करते समय स्वर का कम्पन या कम्प उत्पन्न होता है।

प्रायः एक शब्द में एक ही उदात्त होता है शेष अनुदात्त होते हैं—पाणिनि अनुदात्तं पदमेकवर्जम्। अर्द्धर्च अर्थात् दो पादों में स्वर की इकाई मानी जाती है।

स्वरित के बाद आने वाले अनुदात्तों को अंकित नहीं किया जाता। इन अनुदात्तों को प्रचय कहते हैं, उदाहरण संदितम्। यहाँ 'दि' में स्वरित है, अतएव 'त' प्रचय है। संहिता में इस प्रकार के अनुदात्तों में से अन्तिम अनुदात्त, जिसके पश्चात् उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आता है, अंकित किया जाता है—उदात्तस्वरितपरस्य समतरः। अंकित नहीं किये जाने वाले अनुदात्त निहत कहलाते है। दो उदात्तों के बीच अवस्थित एक अनुदात्त में कोई परिवर्तन नहीं होता।

दो उदात्त वाले शब्द

प्रायः एक शब्द में एक उदात्त होता है, परन्तु निम्नलिखित परिस्थितियों में दो उदात्त मिलते हैं—

(१) तवै प्रत्ययान्त—उदाहरण—एतवै, पातवै।
(पाणिनि—तवै चान्तश्च युगपत्)

(2) देवता द्वन्द्व—उदाहरण—मित्रावरुणा

(3) षष्ठी पूर्वपद वाले समास—उदा०—बृहस्पतिः, वनस्पतिः।

सर्वानुदात्त शब्द

निम्नलिखित पदों में कोई उदात्त नहीं होते :—

(1) अनुदात्त निपात—च, वा, इव, उ, घ, चित्, स्म, स्वित् कम्, यदि नु, सु, हि के पश्चात् आते हों।

(2) त्व, सम और एन के सब रूप।

(3) युष्मद् अस्मद् के निघातादेश के रूप। उदाहरण मा, मे, नौ, नः, त्वा, ते, वाम्, वः।

(4) ईम्, सीम् तथा 'इदम्' के अन्वादेश में अश् के बाद तृतीयादि विभक्ति होने पर। उदाहरण—अस्मात्, अस्य।

(5) पाद या वाक्य के आरम्भ में न आने वाला सम्बोधन।

(6) पाद के आरम्भ में न आने वाला और यद्वृत्त से हीन तिङन्त पद। उदाहरण—

वीर्याणि प्रवोचम्

परन्तु वाक्य या पाद में 'यद्' शब्द के विद्यमान होने पर उदात्त होता है। उदाहरण—यः पार्थिवानि विममे रजांसिः

(7) यथा जब 'इव' के अर्थ में प्रयुक्त हो। उदाहरण—तायवो यथा।

प्रातिपदिकों के स्वर

ञित् और नित् आद्युदात्त होते हैं—**ञ्नित्यादि नित्यम्**

चित् अन्तोदात्त होता है—**चितः**

सुबन्त और पित् अनुदात्त होते हैं—**अनुदात्तौ सुप्पितौ,**

लित् प्रत्यय से पूर्वोदात्त होता है।

तित् स्वरित होता है—तित्स्वरितम्।

अन्य प्रत्यय

जब शतृ शानच् प्रत्ययान्त शब्दों के समास उपसर्ग से युक्त होते हैं, तब उनका मूलभूत उदात्त रहता है और उपसर्ग का उदात्त हटा दिया जाता है। उदाहरण—

अपगच्छत्—शतृ

त एवं क्त के उपसर्ग के साथ समास होने पर उदात्त उपसर्ग में चला जाता है। उदाहरण—

निहित, समाकृत

ल्यप्, त्य, त्व इन प्रत्ययों के होने पर धातु पर उदात्त होता है। उदाहरण—

श्रुत्य, चक्ष्य—पाणिनि अनुदात्तौ सुप्पितौ।

ल्यप् अनुदात्त होता है।

तव्यत् में स्वरित होता है। पाणिनि—तित्स्वरितम्।

उदाहरण—हिंसितव्य।

से, असे, अध्यै, तवे में आद्युदात्त होता है। उदाहरण—

यक्षे, कर्त्तवे।

तोः में आद्युदात्त। उदाहरण—गन्तोः।

पाणिनि—ञ्नित्यादिर्नित्यम्—से आद्युदात्त।

समास स्वर

द्वन्द्व समास—इसमें प्रायः अन्तिम अक्षर पर उदात्त होता है। उदाहरण—सत्यानृतम्

परन्तु देवताद्वन्द्व में दो उदात्त होते हैं। यथा—मित्रावरुणा द्वन्द्व में संख्यावाची पूर्वपद पर प्रकृति उदात्त। उदाहरण—एकादश।

अव्ययीभाव—इसमें अन्तिम अक्षर पर उदात्त होता है। उदाहरण—अनुक्रामम्। परन्तु कुछ शब्दों पर पूर्वपद पर उदात्त होता है। उदाहरण—अधिरथम्

तत्पुरुष समास—प्रायः अन्तिम अक्षर पर उदात्त होता है। उदाहरण—राजपुत्र

क्तान्त, नान्त और क्तिनन्तक शब्दों में पूर्वपद में उदात्त होता है। उदाहरण—देवहित

'पति' शब्द के द्वितीय पद में होने पर पूर्वपद में उदात्त होता है। उदाहरण—गृहपति

षष्ठी समास के अलुक् उदाहरणों पर दो उदात्त होते हैं। उदाहरण—वनस्पति, 'बृहस्पति'।

नञ् समास में आद्युदात्त होता है। उदाहरण—अमन्यमानान्, अकवि

कर्मधारय—में प्रायः अन्तिम अक्षर पर उदात्त होता है। उदाहरण—प्रथमजा। निष्ठा (क्त, क्तवतु) शब्दों में आदि पद पर उदात्त होता है—सधस्तुति।

बहुव्रीहि—में पूर्वपद पर उदात्त होता है। उदाहरण—राजपुत्र, हतमातृ।

द्विरुक्त समास में पूर्वपद पर उदात्त होता है। उदाहरण—अहरहः, दिवेदिवे।

सन्धि में स्वर

(1) सन्धि में उदात्त के साथ अनुदात्त मिलने पर उदात्त होता है। उदाहरण—इह+अस्ति=इहास्ति। पाणिनि—**एकादेश उदात्ते नोदात्तः**।

(2) दीर्घ सन्धि होने से उदात्त इ उ का य् व् बनने पर स्वतन्त्र स्वरित की उत्पत्ति होती है।

उदाहरण—वि=आनट्=व्यानट्।

नु+इन्द्रः=न्विन्द्रः।

पा० —उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य।

(3) ए ओ से उदात्त अ का पूर्वरूप होने पर अ का उदात्त ए ओ पर चला जाता है।

उदाहरण—सूनवे+अग्ने=सूनवेऽग्ने।

परन्तु यदि ए ओ उदात्त हो और पश्चात् का अ अनुदात्त हो तो पूर्व रूप होने पर ए ओ पर स्वतन्त्र स्वरित हो जाता है।

उदाहरण—सो अ ब्रवीत् = सोऽब्रवीत् ।

सुप् विभक्तियों के स्वर

सुप् विभक्तियाँ प्रायः अनुदात्त होती हैं—अनुदात्तौ सुप्पितौ । प्रायः सम्बोधन में उदात्त नहीं होता । यदि होता है तो प्रथम अक्षर पर ही होता है ।

उदाहरण—पितः ।

प्रातिपदिक और विभक्त में यण् होने पर मूल उदात्त पर चला जाता है । उदाहरण—अग्नि + ओस् = अग्न्योः । परन्तु ईकारान्त और ऊङ् प्रत्ययान्त शब्दों की सन्धि होने पर स्वतन्त्र स्वरित की उत्पत्ति होती है । उदाहरण—वृकी + ए = वृक्ये ।

तिङन्त स्वर

(1) लुङ्, लङ्, लृङ् में अट् का आदि आगम उदात्त होता है—लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः । उदाहरण—अभवत् ।

(2) विकरणहीन लुङ् पर प्रायः धातु पर उदात्त होता है । उदाहरण—करत् ।

(3) चुरादिगण और णिजन्त में सन्धि में शप् से पूर्व उदात्त होता है । उदाहरण—पत् + णिच् = पाति, पाति + अ + ति = पातयति ।

(4) सन्नन्त में आद्युदात्त—उदाहरण—जिघांसति ।

(5) यङन्त, नामधातु और कर्मवाच्य के 'य' प्रत्यय पर उदात्त । उदाहरण—नेनीयते, मुच्यते ।

(6) पाद या वाक्य के आरम्भ में आने वाली क्रिया में उदात्त होता है । उदाहरण—अजयः गाः ।

पद पाठ के नियम

(1) सन्धि में शब्दों को अलग-अलग कर लीजिए । उपसर्ग और धातु के मध्य तथा समास के दो उपपदों के मध्य अवग्रह चिह्न लगाइये ।

(2) दो या अधिक उपसर्गों के बाद धातु होने पर पहले उपसर्ग के बाद अवग्रह होता है । उदाहरण—प्रतिऽआवर्त्तय ।

(3) √ कृ के साथ सुट् के आगम की स्थिति में अवग्रह होता है एवं पदपाठ में सुट् का लोप होता है । उदाहरण—परिष्कृण्वन्ति > परिऽकृण्वन्ति ।

(4) समास में दो से अधिक पद होने पर सबसे अन्तिम पद के पूर्व अवग्रह लगता है । उदाहरण—प्रजापतिऽसृष्ट ।

(5) नञ् समाज और देवताद्वन्द्व में अवग्रह नहीं होता । उदाहरण—अनीशः, इन्द्रावरुणा ।

(6) व्यंजन और ह्रस्व स्वर के पश्चात् आने वाले भ्याम्, भिः, भ्यः, सु विभक्तियों में अवग्रह होता है । उदाहरण—अप् + सु = अप्ऽसु । दीर्घ स्वर के पश्चात् अवग्रह नहीं होता । उदाहरण—देवेभिः ।

(7) स्वर के पश्चात् आने वाले क्यच् प्रत्यय को अवग्रह होता है। उदाहरण—सुम्नयुः=सुम्नऽयुः।

(8) ह्रस्व स्वर के परे असम्प्रसारित क्वसु प्रत्यय को अवग्रह होता है। उदाहरण—पपिवान्=पपिऽवान्।

(9) तद्धित प्रत्यय मत्, वत्, वस्, शस्, त्व, त्रा, ताति, धा, मय, तर और तम का अवग्रह होता है। उदाहरण—उत्ऽतमम्, त्रिऽधा।

(10) प्रगृह्य पदों के पश्चात् 'इति' शब्द जुड़ता है। उदाहरण—वायो इति, अस्मे इति।

(11) रिफित विसर्जनीय के पश्चात् भी 'इति' जुड़ता है। उदाहरण—पुनः इति पुनरिति।

परन्तु जहाँ रिफित स्पष्ट दृष्टिगत होता है, वहाँ इति नहीं जुड़ता। उदाहरण—प्रातरग्निम्=प्रातः अग्निम्।

(12) रेफमूलक विसर्गों वाले क्रियारूपों में इति का प्रयोग करके उसका पुनरुच्चारण होता है। उदाहरण—कृ से अकः=अकरित्यकः।

(13) अस् से बने स्युः में भी इति के पश्चात् पुनरुच्चारण होता है। उदाहरण—स्युः=स्युरिति स्युः। स्वः शब्द के पश्चात् भी यही नियम लागू होता है—स्वः=स्वरिति स्वः।

निम्नलिखित तालिका के द्वारा संहिता से पदपाठ करने में सहायता मिलेगी—

अनुदात्त अनुदात्त	>	कोई परिवर्तन नहीं
अनु० अनु० उदात्त	>	"
उ० निहत उ०	>	उदात्त अनु० उदात्त
उ० नि०	>	उ० स्वरित
उ० नि० नि०	>	उ० स्व० प्रचय
उ० नि० नि० नि०	>	उ० स्व० प्र० प्र०
उ० नि० नि० उ०	>	उ० स्व० अ० उ०
उ० नि० नि० नि० उ०	>	उ० स्व० प्र० अ० उ०
उ०नि०नि०नि०···नि०उ०	>	उ० स्व० प्र० प्र०···अ० उ०
उ० जात्य० अ० अ० जा०	>	कोई परिवर्तन नहीं
उ० नि० जा०	>	उ० अ० जा०
जा० नि०	>	जा० प्र०
जा० नि० नि०	>	जा० प्र० प्र०
जा० नि०···नि० उ०	>	जा० प्र०···अ० उ०
उ० नि०···नि० जा०	>	उ० स्व० प्र०···अ० जा०

वैदिक स्वरित

वैदिक भाषा की अनेक विशेषताएँ हैं जो उसे सामान्य लौकिक संस्कृत से विशिष्ट स्वरूप प्रदान करते हैं, जैसे व्याकरण के नियमों की उदारता, लेट लकार का प्रयोग और भाषा में उदात्तादि स्वरों का प्रयोग, इत्यादि। वैदिक भाषा में स्वरों का विशेष महत्व है। मुख्य रूप से उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित तीन स्वरों का प्रयोग संहिताओं में दिखता है। प्रस्तुत संदर्भ में स्वरित स्वर पर विस्तार से विवेचन किया जाएगा।

स्वरित स्वर एक मूलतः आश्रित स्वर है, जो उदात्त के बाद आनेवाले अनुदात्त का बनता है। इसप्रकार हम कह सकते हैं कि स्वरित मूलतः उदात्त पर आश्रित रहता है। कहीं-कहीं सन्धि आदि के कारण जब आश्रयदाता उदात्त स्वर नष्ट हो जाता है, तो ऐसी स्थिति में ~~बिना उदात्त~~ दिखाई देने वाला स्वरित, बिना उदात्त के भी रहता है। ऐसी परिस्थिति में बिना उदात्त के मिलने वाले स्वरित को स्वतन्त्र स्वरित कहा जाता है। इसप्रकार हम कह सकते हैं कि स्वरित के स्वतन्त्र एवं आश्रित मुख्य दो भेद होते हैं।

आश्रित स्वरित

विविध परिस्थितियों में दिखने वाले आश्रित स्वरित के चार भेद प्राप्त होते हैं -

1) तैरोव्यंजन स्वरित :- जब पूर्ववर्ती उदात्त और उससे परे आनेवाले आश्रित स्वरित के मध्य व्यञ्जन का व्यवधान होता है, तो उसे तैरोव्यंजन स्वरित कहा जाता है। यथा -

अग्निना, मुञ्जन्ति

→ यहाँ उदात्त 'इ'कार और स्वरित 'आ'कार के मध्य 'न'कार का व्यवधान आने से 'आ'कार तैरोव्यंजन स्वरित

2) <u>तैरोविराम स्वरित</u> :- पदपाठ में जब अवग्रह(ऽ) से ठीक पूर्ववर्ती स्वर उदात्त हो और उस उदात्त पर आश्रित स्वरित अवग्रह के बाद आता हो तो उसे तैरोविराम स्वरित कहा जाता है। यथा – यज्ञऽपतिम् , पञ्चऽभिः।

→ प्रस्तुत उदाहरण में अवग्रह से पूर्ववर्ती 'अ'कार उदात्त है और उस पर आश्रित स्वरित 'प'कार उत्तरवर्ती 'अ'कार अवग्रह के पश्चात् आया है, अतः यह तैरोविराम स्वरित है।

3) <u>प्रातिहत स्वरित</u> :- जब संहिता पाठ में पूर्वपद के अन्तिम अक्षर पर उदात्त हो और उसके बाद आने वाले पद का आदि स्वर स्वरित बन जाए तो उसे प्रातिहत स्वरित कहा जाता है। यथा :- यः + त्वा = यस्त्वा

→ यहाँ 'य'कार उत्तरवर्ती 'अ'कार उदात्त है, और उत्तरपद 'त्वा' का 'आ'-कार, जो कि अनुदात्त था वह उदात्त के बाद आने के कारण स्वरित बन गया है, इसलिए यह 'प्रातिहत स्वरित' का उदाहरण है।

4) <u>पादवृत / वैवृत स्वरित</u> :- जब पदान्त व पदादि स्वरों के बीच सन्धि के कारण कोई विकार उत्पन्न नहीं होता उसे विवृति कहा जाता है, जब ऐसी स्थिति में पूर्ववर्ती पद के अन्तिम उदात्त के कारण बाद वाले पद का आदि वर्ण स्वरित बन जाता है, तो, ~~कद~~ वह पादवृत या वैवृत स्वरित कहलाता है।

ध्रुवा असन्

स्वतन्त्र स्वरित

1) जात्य स्वरित / नित्य स्वरित :- जब एक पद में संयुक्त व्यञ्जन में 'य' कार एवं 'व' कार से परे आनेवाले स्वरित स्वर से पहले कोई उदात्त / अनुदात्त आदि स्वर न हो, तो उसे जात्य स्वरित / नित्य स्वरित कहा जाता है। आधुनिक विद्वानों के अनुसार जब एक ही पद में अन्तः सन्धि के कारण 'इ' कार एवं 'उ' कार के स्थान पर 'यण्' सन्धि होने पर 'य' कार 'व' कार बन जाता है, तथा उससे परे जो स्वरित आता है, उसे नित्य स्वरित / जात्य स्वरित कहा जाता है।

यथा → क्वं, स्वं

2) अभिनिहित स्वरित :- अभिनिहित सन्धि अर्थात् लौकिक संस्कृत में पूर्वरूप-सन्धि में पद के अन्त में उदात्त 'ए' और 'ओ' के बाद पदादि अनुदात्त ह्रस्व 'अ' कार परे होने पर जो पूर्वरूप सन्धि होकर 'ए' और 'ओ' पर जो स्वरित बनता है, वह अभिनिहित स्वरित कहलाता है।

यथा - सोऽब्रवीत्, तेऽब्रुवन्

3) क्षैप्र स्वरित :→ क्षैप्र सन्धि अर्थात् 'यण्' सन्धि में उदात्त 'इ' कार एवं 'उ' कार जब क्रमशः 'य', 'व' बन जाते हैं तो उनसे परे विद्यमान स्वर स्वरित हो जाता है, उसे क्षैप्र स्वरित कहा जाता है।

यथा - नु + इन्द्र = न्विन्द्र, वि + आनद् = व्यानद्

4) प्रश्लिष्ट स्वरित :- जब संहितापाठ में पदान्त एवं पदादि स्वरों के बीच सवर्ण दीर्घ सन्धि, वृद्धि सन्धि एवं गुण सन्धि होने पर जो एकादेश होता है, उसे प्रातिशाख्यों में प्रश्लिष्ट स्वरित के नाम से जाना जाता है। इसप्रकार जहाँ सवर्ण दीर्घ, वृद्धि, एवं गुण सन्धि होने पर जो स्वरित

वह पूर्व में उदात्त न होने के कारण स्वतन्त्र स्वरित हो जाता है, उसे प्रश्लिष्ट स्वरित कहा जाता है।

यथा - दिवीव - दिवि + इव

दिद्यूपदधाति - दिद्यु + उपदधाति

उपरोक्त स्वर सम्बन्धी विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि, स्वरित यद्यपि एक आश्रित स्वर है, तथापि विविध परिस्थितियों में सन्धि आदि के कारण आश्रयदाता उदात्त स्वर के नष्ट हो जाने पर जो स्वरित शेष रहता है, वह स्वतन्त्र स्वरित कहा जाता है।

वैदिक क्त्वार्थक प्रत्यय

वैदिक भाषा की अनेक विशेषताएँ हैं जो उसे लौकिक संस्कृत से अलग वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं, जैसे सुबन्त रूपों में विविधता, लेट लकार का प्रयोग, सन्धि नियमों में शिथिलता आदि। ऐसी ही एक अन्य विशेषता है - एक ही अर्थ में अनेक प्रत्ययों का प्रयोग। लौकिक संस्कृत में जिस अर्थ में 'क्त्वा' का प्रयोग मिलता है, उसी अर्थ के लिए वैदिक संस्कृत में अनेक प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है।

लौकिक संस्कृत में जब एक ही वाक्य में दो या अधिक क्रियाएँ हो रही हों तो पूर्वकालिक क्रिया के लिए धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय का विधान किया जाता है। पाणिनि ने - समानकर्तृकयोः पूर्वकाले - सूत्र द्वारा इसका विधान किया है।

वैदिक संस्कृत में 'क्त्वा' प्रत्यय के साथ-साथ त्वाय, त्वी, त्वीनम् ल्यप् (य) और 'अम्' – प्रत्ययों का प्रयोग देखा जा सकता है।

[A] क्त्वा :- एक ही वाक्य में उपस्थित दो क्रियाओं में पूर्वकालिक क्रिया के लिए 'क्त्वा' का प्रयोग किया जाता है, जैसे – इष्ट्वा गच्छति।

यहाँ √यज् धातु से क्त्वा प्रत्यय लगाने पर इष्ट्वा बना है। इसी प्रकार उक्त्वा, गत्वा.... आदि।

[B] त्वाय :- पाश्चात्य विद्वानों ने क्त्वा के अर्थ में 'त्वाय' प्रत्यय को एक स्वतन्त्र प्रत्यय के रूप में स्वीकार किया है, जबकि पाणिनि ऐसे स्थानों पर 'क्त्वा' को ही स्वीकार करते हैं। तथा 'क्त्वा' प्रत्यय को 'क्त्वो-यक्' सूत्र से 'यक्' आगम का विधान करते हैं, जिससे गत्वाय, इष्ट्वाय, दत्वाय आदि रूप निष्पन्न होते हैं।

[C] त्वी :- वैदिक संस्कृत में क्त्वा के अर्थ में ही 'त्वी' का भी अनेक स्थानों पर प्रयोग दिखता है। पाणिनि ने 'स्नात्व्यादयश्च' सूत्र के द्वारा इसप्रकार के शब्दों को निपातन से साधु माना है। यथा – स्नात्वी, पीत्वी, भूत्वी आदि।

[D] त्वीनम् :- पाणिनि ने 'क्त्वा' के अर्थ में ही 'त्वीनम्' प्रत्ययान्त 'इष्ट्वीनम्' शब्द के साधुत्व को 'इष्ट्वीनमिति च' सूत्र के द्वारा निपातन से साधु माना है।

काशिकाकार ने भी 'पीत्वीनम्' शब्द को उदाहरण के रूप में रखा है।

परन्तु वैदिक साहित्य में कहीं भी 'त्वीनम्' प्रत्ययान्त प्रयोग नहीं मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि प्रस्तुत उदाहरण और इसीप्रकार के अन्य 'त्वीनम्' प्रत्ययान्त प्रयोग वेद की किसी लुप्त शाखा में रहे होंगे जो आज उपलब्ध नहीं है।

[E] ल्यप् (य) :- वैदिक एवं लौकिक दोनों प्रकार की संस्कृत में जब धातु से पहले कोई उपसर्ग होता है, या किसी अन्य पद के साथ उसका समास होता है, तो वहाँ 'क्त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' का प्रयोग होता है। पाणिनि ने 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' सूत्र के द्वारा इसका विधान किया है।

यथा - अतिदीव्य, अनुदीव्य, अवसाय, आगत्य आदि।

[F] अम् (णमुल्) :- वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रंथों में 'क्त्वा' के अर्थ में पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार 'अम्' प्रत्यय भी दिखाई देता है। परन्तु भारतीय परम्परा के अनुसार ऐसे स्थानों पर दिखने वाले 'अम्' प्रत्यय को पूर्ण रूप से 'क्त्वा' के समान नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक ही वाक्य में जब दो क्रियाएँ एक साथ घटित होती हैं, तो 'अम्' का प्रयोग होता है, जिसे भारतीय परम्परा 'णमुल्' के रूप में स्वीकार करती है।

यथा - अभिक्रामं जुहोति अभिजित्यै।

(पास पहुँचता हुआ विजय के लिए हवन करता है)

इस उदाहरण में 'अभिक्रामं' पद में 'अम्' प्रत्यय दिखता है, जो इसके समकालिक 'हवन' क्रिया के साथ-२ घटित होने वाली 'पास जाने' की क्रिया को अभिव्यक्त करता है,

⇒ उपर्युक्त विवेचन से 'क्त्वा' के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले विविध प्रत्ययों का प्रयोग वैदिक संस्कृत की उदारता एवं उदात्तता को स्पष्ट स्पष्ट रूप से परिलक्षित करता है।

वैदिक तुमर्थक प्रत्यय

वैदिक भाषा की अनेक विशेषताएँ जो उसे लौकिक संस्कृत से पृथक करती हैं, उनमें से एक विशेषता है - एक ही अर्थ में अनेक 'कृत्' प्रत्ययों का प्रयोग। वैदिक संस्कृत में 'तुमुन' प्रत्यय के अर्थ में अनेक प्रत्ययों का प्रयोग प्राप्त होता है। 'तुमुन' प्रत्यय मूल रूप से क्रिया के लिए क्रिया उपपद में होने पर भविष्यत् अर्थ में होने वाली क्रियावाचक धातु के साथ जोड़ा जाता है। म० पाणिनि ने - 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' - सूत्र के द्वारा इसका विधान किया है। लौकिक संस्कृत में जहाँ केवल 'तुमुन' प्रत्यय का विधान किया होता है, वहीं वैदिक संस्कृत में 'तुमुन' प्रत्यय के अर्थ में - से, सेन्, असे, असेन आदि अनेक प्रत्यय दिखते हैं। 'तुमन' और 'से.... ...असेन' आदि प्रत्ययान्त शब्दों के 'मकारान्त' तथा 'एजन्त' रूपों को पाणिनि ने अव्यय माना है, जिसका विधान 'कृन्मेजन्तः' सूत्र के द्वारा किया गया है। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार ये सभी रूप मूलतः कृदन्त प्रातिपदिकों के विभक्त्यन्त रूप थे, जो काल के प्रवाह में निरन्तर ~~अप्रयुक्त~~ अपरिवर्तित रहने के कारण अव्यय बन गए। इसलिए उन्होंने इन सभी तुमर्थक प्रत्ययों को उनकी विभक्ति-मूलकता के आधार पर 5 भागों में बाँटा है जो क्रमशः इसप्रकार हैं—

[A] <u>द्वितीयामूलक तुमर्थक प्रत्यय</u> :- द्वितीयामूलक तुमर्थक प्रत्यय दो प्रकार के दिखते हैं - प्रथम वे प्रत्यय हैं जिनके अन्त में 'तुम्' दिखता है, तथा दूसरे वे जिनके अन्त में 'अम्' आता है।

[क] <u>'तुम्' अन्त वाले प्रत्यय</u> :- महर्षि पाणिनि के अनुसार

'तुम' अन्त वाले प्रत्ययों में मूलतः 'तुमुन्' प्रत्यय होता है, जिसका अनुबन्ध लोप होने पर 'तुम' शेष बचता है।
यथा - दातुम्, प्रष्टुम् आदि

[क] पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार इसप्रकार के शब्द मूलतः 'तु' अन्त वाले प्रातिपदिकों के द्वितीयान्त रूप हैं, जो समय के बीत जाने पर तथा दीर्घ काल तक अपरिवर्तित रहने के कारण अव्यय बन गए।

[ख] 'अम्' अन्त वाले प्रत्यय :- जिन तुमर्थक प्रत्ययान्त शब्दों के अन्त में 'अम्' दिखता है, पाश्चात्य विद्वान उन्हें 'अकारान्त' प्रातिपदिकों के द्वितीया विभक्ति के रूप मानते हैं, जो बाद में अव्यय बन गए। परन्तु पाणिनि के अनुसार ऐसे शब्दों में 'णमुल'/'कमुल' प्रत्यय होता है। इसका विधान उन्होने - 'शकि णमुल्कमुलौ' सूत्र से किया है।
यथा - समिधम्, आरुहम् आदि।

[B] चतुर्थीमूलक तुमर्थक प्रत्यय :- वैदिक संस्कृत में तुमर्थक प्रत्ययों में चतुर्थीमूलक तुमर्थक प्रत्ययों का प्रयोग सर्वाधिक प्राप्त होता है। इसके रूपों में भी बहुत अधिक विविधता प्राप्त होती है। * पाणिनि के अनुसार - से, सेन्, असे, असेन्, क्से, क्सेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ्, तवेन्' आदि चतुर्थीमूलक प्रत्यय हैं।
[क] 'ए' अन्त वाले चतुर्थीमूलक तु० प्र० :- पाणिनि के अनुसार अनुबन्ध भेद से - से, सेन्, असे, असेन्, क्से, क्सेन्, प्रत्ययान्त शब्दों के सभी रूप एकारान्त बनते हैं, पाश्चात्य

विद्वानों के अनुसार ये सभी शब्द मूलतः हलन्त अथवा अजन्त प्रातिपदिकों के चतुर्थ्यन्त रूप होते थे, जो कालक्रम में अपरिवर्तित रहने के कारण अव्यय बन गए। जैसे- भुवे, मुदे...

इनके अतिरिक्त चतु० मू० एकारान्त तुमर्थक प्रत्ययों में अनुबन्ध भेद से 'तवेङ्' एवं 'तवेन्' दो प्रत्ययों का और विधान करते हैं, जिनमें अनुबन्ध लोप होने के बाद 'तवे' शेष बचता है।

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार ऐसे शब्दरूप जिनके अन्त में 'तवे' दिखता है, वे 'तु' अन्त वाले कृदन्त प्रातिपदिकों के चतुर्थ्यन्त रूप थे, जो दीर्घकाल तक अपरिवर्तित रहने के कारण अव्यय बन गए।

यथा- सूतवे, शातवे, पातवे आदि।

[ख] 'ऐ' अन्तवाले चतु० मू० तु० प्रत्यय :- वैदिक साहित्य में 'ऐ' अन्त वाले तीन प्रत्यय दिखते हैं, जो क्रमशः तवै, अध्यै, और इध्यै के रूप में पाणिनि ने स्वीकार किया है।

(i) तवै :- पाणिनि जिसे 'तवै' प्रत्ययान्त रूप स्वीकार करते हैं, मैक्डॉनल के अनुसार ऐसे शब्द 'तवा' अन्त वाले कृदन्त प्रातिपदिकों के चतुर्थ्यन्त रूप थे, जो कालक्रम में अपरिवर्तित रहने के कारण अव्यय बन गए।

यथा - एतवै, गन्तवै आदि।

(ii) अध्यै :- वैदिक साहित्य में जिन शब्दों के अन्त में अध्यै दिखता है, पाणिनि ने ऐसे स्थानों पर अनुबन्ध भेद से अध्यै, अध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, कध्यै और कध्यैन् प्रत्यय स्वीकार किए हैं। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार इसप्रकार के सभी रूप 'ध्या' अन्त वाले कृदन्त प्रातिपदिकों के चतुर्थ्यन्त रूप थे जो अपरिवर्तित रहने के कारण अव्यय बन गए। यथा - चरध्यै, गमध्यै, तरध्यै, आदि।

(iii) इष्यै :- पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'रोहिष्यै' और अव्यथिष्यै, दो पदों को 'तुमुन्' के अर्थ में निपातन से सिद्ध माना है, अर्थात् ये दोनों पद इसी रूप में प्राप्त होते हैं और इनमें 'इष्यै' प्रत्यय की कल्पना की जा सकती है।

[C] पञ्चमी तथा षष्ठीमूलक तुमर्थक प्रत्यय :- पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार 'असन्त' और 'तोसन्त' अव्यय पञ्चमी और षष्ठीमूलक दिखते हैं। पाणिनि ने इनमें क्रमशः 'कसुन्' तथा तोसुन प्रत्यय स्वीकार किया है।

यथा - आतृदः, अपपदः सम्पृचः आदि शब्द असन्त अव्यय हैं।

- गन्तोः, जनितोः आदि शब्द तोस् प्रत्ययान्त अव्यय हैं।

[D] सप्तमीमूलक तुमर्थक प्रत्यय :- पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार कुछ इकारान्त शब्द तुमर्थक प्रत्ययान्त माने जाते हैं, जो सामान्यतः हलन्त शब्द में तुमर्थक इकार प्रत्यय जोड़कर बनाए जाते हैं।

यथा - दृशि, बुधि, संदृशि आदि।

इसीप्रकार 'तृ' अन्त वाले प्रातिपदिकों से सप्तम्यन्त विधर्तरि, धर्तरि आदि रूप बनते हैं। इनके अलावा कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके अन्त में 'सन्' आता है और सप्तमी विभक्ति में वे इकारान्त अव्यय बन जाते हैं

यथा - पर्षणि, तरीषणि आदि।

सप्तमीमूलक तुमर्थक प्रत्ययों के विषय में भारतीय परम्परा का मत पाश्चात्य विद्वानों से सर्वथा भिन्न है, वे इन्हें अव्यय नहीं मानते, उनके अनुसार ऐसे रूपों में तुमर्थक प्रत्यय न होकर समान्य 'कृत्' प्रत्यय होते हैं और उनके सप्तमी विभक्ति में ये रूप निष्पन्न होते हैं।

⇒ इसप्रकार हम कह सकते हैं कि वैदिक भाषा का उदात्त रूप और एक ही अर्थ में अनेक प्रत्ययों का प्रयोग एक बहुत बड़ी विशेषता है, जिसे तुमर्थक प्रत्ययों के रूप में देखा जा सकता है।

वैदिक सन्धि

वैदिक भाषा की अनेक विशेषताएँ हैं जैसे रूपों की अनेकता प्रत्ययों का आधिक्य, लेट लकार का प्रयोग आदि। संहिता की स्थिती में वर्णों के उच्चारण में जो परिवर्तन होते हैं, उनमें भी लौकिक संस्कृत की अपेक्षा वैदिक भाषा में कुछ भिन्नताएँ दिखाई देती हैं। वैदिक भाषा के विश्लेषण के लिए विशेष रूप से लिखे गए व्याकरण ग्रन्थ 'प्रातिशाख्य' के नाम से जाने जाते हैं। महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी में वैदिक तथा लौकिक दोनों भाषाओं का विश्लेषण किया है। दोनों ही परंपराओं में (पाणिनि तथा प्रातिशाख्य) सन्धि/संहिता में होने वाले ध्वनि सम्बन्धी परिवर्तनों का भी विस्तार से वर्णन हुआ है। दोनों शास्त्रों का विषय एक समान होने पर भी दोनों में के विश्लेषण में कुछ अंतर दिखाई देता है। यह अन्तर मुख्य रूप से विविध सन्धियों के नामकरण में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

पाणिनीय व्याकरण में 'अच्' प्रत्याहार में आने वाले वर्णों को प्रातिशाख्यों में 'स्वर' के नाम से जाना जाता है। इसी प्रकार 'हल्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों को व्यञ्जन कहा जाता है। इसप्रकार पाणिनीय व्याकरण के अच् तथा हल् सन्धि को क्रमशः स्वर तथा व्यञ्जन सन्धि कहा जाता है। प्रातिशाख्यों में सन्धि का एक तीसरा प्रकार 'विसर्ग सन्धि' प्राप्त होता है।

स्वर सन्धि

(क) प्रश्लिष्ट सन्धि :- पाणिनीय व्याकरण में सवर्ण-दीर्घ, वृद्धि और गुण सन्धि के नाम से जिनका विश्लेषण किया गया है, प्रातिशाख्यों में इन तीनों के लिए 'प्रश्लिष्ट सन्धि' नाम मिलता है।

* जब दो समान स्वर साथ-2 आते हैं तो उन दोनों के स्थान में उनका ही दीर्घ एक रूप आ जाता है, यथा-
अश्व + अजनि = अश्वाजनि, मधु + उदकम् = मधूदकम् इत्यादि।

* जब अ/आ के बाद उ/ऊ आए तो दोनों के स्थान पर 'ओ' एकादेश हो जाता है, यथा -

एतायाम + उप = एतायामोप

* जब अ/आ के बाद ओ/औ आए तो उनके स्थान पर 'औ' एकादेश होता है। यथा -

यत्र + ओषधि = यत्रौषधि

(ख) क्षैप्र सन्धि :- इ, उ, ऋ, लृ के बाद कोई भिन्न स्वर परे होने पर इ, उ, ऋ, लृ के स्थान पर क्रमशः य, व, र, ल एकादेश हो जाता है, पाणिनि ने 'इकोयणचि' सूत्र से इसका निर्देश किया है, इसे ही प्रातिशाख्यों में क्षैप्रसन्धि के नाम से जाना है।

यथा -

अभि + आयैषम् = अभ्यायैषम्

अधीन्नु + अत्र = अधीन्न्वत्र ।

(ग) अभिनिहित सन्धि :- जब पदान्त में ए/ओ वर्ण हो तथा उनके बाद 'अ'/'आ' आ जाए तो उन दोनों के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है। इसे प्रातिशाख्यों में 'अभिनिहित' नाम से जाना जाता है। यथा -

सूनवे + अग्ने = सूनवेऽग्ने

रथेभ्यो + अग्ने = रथेभ्योऽग्ने

पुरूरवे + अनु = पुरूरवोऽनु

(घ) भुग्न सन्धि :- जब 'ओ/औ' वर्णों के बाद 'अ/आ' के आ जाए तो 'ओ/औ' के स्थान पर क्रमशः 'अव्/आव्' आदेश होता है, इन्हे भुग्न सन्धि के नाम से जाना जाता है।

यथा -

वायो + आ = वायवा

उभौ + अपि = उभावपि

(ङ) उद्ग्राह सन्धि :- जब 'ए'/ओ' के बाद कोई स्वर परे हो तो ए/ओ के स्थान पर 'अ' आदेश हो जाता है, उसके बाद वहाँ अन्य कोई सन्धि कार्य नहीं होता। यथा-

अग्ने + इन्द्र = अग्न इन्द्र

वायो + उक्थेभिः = वायो उक्थेभिः।

(च) उद्ग्राहपद्वृत्ति सन्धि :- जब 'ए/ओ' के बाद कोई दीर्घ स्वर परे हो तो 'ए/ओ' के स्थान पर 'अ' आदेश होता है, तथा उसके बाद कोई सन्धि नहीं होती

यथा - के + ईषते = क ईषते

निरन्तो + आयु = निरन्त आयु।

(छ) पद्वृत्ति सन्धि :- जब ऐ/औ के बाद कोई स्वर परे हो तो ऐ/औ के स्थान पर 'आ' आदेश होता है, तथा उसके बाद कोई अन्य सन्धि नहीं होता।

यथा- अन्तवै + उ = अन्तवा उ

उभौ + ऊ = उभा ऊ

(ज) प्रगृहीत पद सन्धि :- जिन पदों की प्रगृह्य संज्ञा होती है, उनके बाद कोई भी स्वर परे होने पर प्रकृतिभाव रहता है, अर्थात् कोई सन्धि कार्य नहीं होता। सामान्यतः ई-कारान्त, ऊ-कारान्त और ए-कारान्त जो द्विवचनान्त शब्द हैं, उनकी, ओ-कारान्त निपातों की, एक अच् रूप निपातों की तथा युस्मे अस्मे, त्वे, मे आदि पदों की प्रगृह्य संज्ञा होती है, तथा इनके परे कोई भी स्वर होने पर सन्धि कार्य नहीं होता। यथा -

इन्द्राणी + इति = इन्द्राणी इति

वायू + इति = वायू इति

अथो + इति = अथो इति (अहो, आहो, उताहो)

युस्मे + इति = युस्मे इति

व्यञ्जन सन्धि

* (i) अन्वक्षर सन्धि :- जब स्वर के बाद कोई व्यञ्जन आता है, तो उसे अन्वक्षर सन्धि कहा जाता है।

यथा - न + निमिषति = न निमिषति।

(ii) जब व्यञ्जन के बाद कोई स्वर आकर जुड़ता है, तो उसे प्रतिलोम अन्वक्षर सन्धि कहा जाता है।

यथा - ध्यानम् + ईमहे = ध्यानमीमहे।

* अवर्गागम आस्थापित सन्धि :- जब 'क-म' तक के स्पर्श वर्णों के बाद कोई व्यञ्जन परे हो और उनमें कोई परिवर्तन न हो तो उन्हें अवर्गागम आस्थापित सन्धि कहा जाता है।

यथा - वषट् + ते = वषट् ते

यत् + पत्ये = यत्पत्ये।

* वर्गागम आस्थापित सन्धि :- जब कवर्गादि वर्गों के प्रथम वर्णों के बाद वर्गों के 3,4,5 वें वर्ण तथा ह्, य्, व्, र्, ल्, परे हो तो पूर्व में विद्यमान वर्ण के प्रथम वर्ण के स्थान पर इसी वर्ग के तृतीय वर्ण का आदेश होता है। यथा -

यद् वाक् + वदति = यद् वाग्वदति

षट् + भिः = षड्भिः

सरित् + भ्याम् = सरिद्भ्याम्।

विसर्ग सन्धि

* प्रकृति सन्धि :- अरिफित विसर्जनीय के पहले दीर्घ स्वर हो और उसके बाद कोई स्वर आ जाए तो विसर्ग और उसकी उपधा के स्थान में 'आ' आदेश हो जाता है। यथा -

या: + ओषधि = या ओषधि

* उद्ग्राह सन्धि :- अरिफित विसर्जनीय के पहले ह्रस्व स्वर हो और बाद में कोई स्वर परे हो तो विसर्ग और उपधा के स्थान में 'अ' आदेश हो जाता है।

यथा - य: + इन्द्र: = य इन्द्र: ।

* प्रश्लिष्ट सन्धि :- अरिफित विसर्जनीय से पहले ह्रस्व अकार हो और बाद में घोष व्यञ्जन परे हो तो विसर्ग और उससे पूर्ववर्ती ह्रस्व अकार के स्थान में 'ओ' आदेश हो जाता है। यथा -

देव: + देवेभि: = देवो देवेभि: ।

* रेफ सन्धि :- रिफित विसर्जनीय के पहले कोई स्वर हो और उसके बाद कोई स्वर या घोष व्यञ्जन परे हो तो विसर्जनीय के स्थान में 'र' हो जाता है। यथा -

प्रात: + अग्नि = प्रातरग्नि

प्रात: + मित्रावरुणा = प्रातर्मित्रावरुणा ।

* अक्राम सन्धि :- अरिफित विसर्जनीय के बाद 'र' परे हो तो विसर्ग का लोप हो जाता है। यथा -

अश्वा: + रथ: = अश्वारथ: ।

* अव्याप्ति सन्धि :- विसर्ग के बाद क्, ख्, प्, फ् परे हो तो विसर्ग ज्यों का त्यों बना रहता है, इसमें परिवर्तन नहीं होता, इसे अव्याप्ति सन्धि कहा जाता है।

य: + कृन्तत = य: कृन्तत

* उपचारित सन्धि - (i) जब एक पद के अन्दर विसर्ग के पहले 'अ' हो और इससे परे पति, करम्, कृधि, करत् और क: हो तो विसर्ग के स्थान पर 'स्' आदेश हो जाता है, इसे उपचारित सन्धि कहा जाता है। यथा -

ब्रह्मणः + पति = ब्रह्मणस्पति
वाच: + पति = वाचस्पति
न: + कृधि = नस्कृधि

(ii) * जब आवि:, हवि:, ज्योति: शब्दों के बाद क्, पान्त पश्यन्ति शब्द परे हो तो विसर्ग के स्थान में 'ष्' आदेश होता है। यथा -

आवि: + कर्ता = आविष्कर्ता
हवि: + कृणु = हविष्कृणु
हवि: + पान्तम् = हविष्पान्तम्
ज्योति: + पश्यन्ति = ज्योतिष्पश्यन्ति।

वैदिक सुबन्त

वैदिक भाषा में लौकिक संस्कृत के समान ही एकवचन द्विवचन, बहुवचन तथा तीन लिंग (पुं०, स्त्री०, नपुं) प्राप्त होते हैं। वैदिक सुबन्तों में भी सात विभक्तियाँ प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त वैदिक सुबन्तों में कुछ ऐसी विशेषताएँ प्राप्त होती हैं जो लौकिक संस्कृत में नहीं मिलती। जैसे-

* लौकिक संस्कृत में 'विश्व:' शब्द के प्र०वि० बहु व० में 'विश्वानि' रूप प्राप्त होता है, जबकि वैदिक भाषा में 'विश्वानि' शब्द के साथ-साथ 'विश्वा' रूप भी प्राप्त होता है। पाणिनि ने 'शेश्छन्दसि बहुलम्' सूत्र से 'शि' का 'लोप' माना है।

* इसी तरह अकारान्त पु० शब्दों में प्र०वि० बहु व० में 'देवा:' 'जना:' इत्यादि के स्थान पर देवास: और 'जनास:' रूप भी प्राप्त होता है; पाणिनि ने 'आज्जसेरसुक्' सूत्र से 'जस्' को असुक् आगम् का विधान करके इसे सिद्ध किया है।

* वैदिक भाषा में अकारान्त शब्दों में तृ०वि० बहु० में 'देवै:' आदि के स्थान पर देवेभि: रूप भी प्राप्त होता है; पाणिनि ने बहुलम् छन्दसि सूत्र के द्वारा ऐसा विधान का बहुल करके माना है।

* लौकिक संस्कृत में अकारान्त नपुं० प्र० वि० बहु० में 'विश्वानि' 'तानि' 'यानि' आदि रूप बनते हैं जबकि वैदिक भाषा में जस्' के स्थान पर 'शि' का लोप हो जाता है। पाणिनि ने 'शेश्छन्दसि बहुलम्' सूत्र के द्वारा इसका विधान किया है, तथा विश्वा, ता, या आदि रूप को स्वीकार किया है।

* वेद में इतरत् के स्थान पर इतरम् शब्द प्राप्त होता है।

* सुबन्त रूपों में वैदिक भाषा का बहुत ही उदात्त रूप दिखाई देता है। वैदिक भाषा में किसी भी सुप् के स्थान में 'सु' का प्रयोग सुकों का लुक्, पूर्वसवर्ण, सुकों के स्थान में आत्, शे, या, डा, ड्या, याच् और आल् आदि प्रयोग भी दिखाई देते हैं। जैसे – पथिन् शब्द के प्रथमा वि० बहु० में पंथान: शब्द बनना चाहिए जबकि वेद में 'जस्' के स्थान पर सु आदेश होकर पंथा: रूप प्राप्त होता है। इसीप्रकार गौरी शब्द से स०वि० एक० में ङि का लुक् होने पर गौर्याङ् के स्थान पर गौरी शब्द ही प्राप्त होता है।

* उरुणा के स्थान पर उरुया युष्मासु के स्थान पर युस्मे अस्मभ्यम् के स्थान अस्मे आदि रूप वैदिक भाषा के सुबन्तों की विविधता के ही द्योतक हैं। पाणिनि ने इन सभी विविधताओं के लिए –
सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजाल: सूत्र के द्वारा इन रूपों का विधान किया है।

* इनके अतिरिक्त 'श्री' और 'ग्रामणी' शब्दों के ष०वि० बहु० में नुट् आगम होकर श्रीणाम् और ग्रामणीनाम् रूप भी वैदिक भाषा में प्राप्त होते हैं। पाणिनि ने 'श्रीग्राम०योश्छन्दसि' सूत्र के द्वारा इनका विधान किया है।

* अक्षि शब्द के तृ०वि० द्वि० में अक्षिभ्याम् के स्थान पर अक्षीभ्याम् रूप प्राप्त होता है। पाणिनि ने 'ई च द्विवचने' सूत्र के द्वारा इसका विधान किया है।

इसप्रकार उपर्युक्त विवेचन से वैदिक भाषा में प्राप्त विविधताओं और विशेषताओं को अत्यन्त संक्षेप में इंगित

किया गया है। अतः कहा जा सकता है कि वैदिक सुबन्त रूपों में लौकिक संस्कृत भाषा की अपेक्षा रूपों की विविधता प्राप्त होती है, जो वैदिक भाषा के उदात्त स्वरूप का परिचायक है।

वैदिक लेट् लकार

वैदिक भाषा की अनेक विशेषताएँ हैं, जो उसे लौकिक संस्कृत से भिन्न स्वरूप प्रदान करती हैं, लेट् लकार का प्रयोग भी एक ऐसी ही विशेषता है, जो केवल वैदिक भाषा में दिखाई देती है। लौकिक भाषा में लेट् लकार का प्रयोग नहीं मिलता। लेट् लकार के अर्थ के संदर्भ में पाणिनि ने लिङर्थे लेट् और उपसंवादशंकयोश्च सूत्रों का उल्लेख किया है। लिङ् लकार का प्रयोग, विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण अधिष्ट (सत्कारपूर्वक किसी बड़े को कोई कार्य करने के लिए निवेदन करना) सम्प्रश्न, प्रार्थना, आदि अर्थों में होता है। द्वितीय सूत्र में निर्दिष्ट, उपसंवाद शब्द का अर्थ है- किसी कार्य को करने के लिए शर्त रखना।

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि विधि आदि अर्थों में महर्षि पाणिनि और भारतीय परम्परा के अन्य विद्वानों को लेट् लकार का प्रयोग अभिष्ट है। परन्तु आधुनिक विद्वान पाणिनि और भारतीय विद्वान परम्परा में प्राप्त इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका मानना है कि लिङ् लकार के साथ कुछ समानताएँ होने पर भी लेट् लकार के प्रयोग का क्षेत्र उनसे भिन्न है। मैक्डानल के अनुसार

लेट् लकार का मूल अर्थ आकूति (Will) है, जबकि विधिलिङ् का अर्थ इच्छा या संभावना। पाश्चात्य विद्वानों ने लेट् लकार के प्रयोगों को तीन भागों में बाँटकर उसका विश्लेषण किया है। जो निम्न हैं –

(क) भविष्यत् अर्थ में लेट्

वैदिक भाषा में भविष्यत् अर्थ में लेट् लकार का प्रयोग अधिकतर उत्तम पुरुष में प्राप्त होता है। मध्यम तथा प्रथम पुरुष के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। इनकी एक विशेषता यह है कि इनके साथ 'नु' तथा 'हन्त' निपातों का प्रयोग दिखाई देता है। यथा-

प्र नु वोचा सुतेषु वाम्।

अर्थात् – सोमों का रस निकालने पर मैं तुम दोनों की स्तुति करूँगा।

* उपदेश, प्रार्थना आदि के अर्थ में लेट् का प्रयोग, लेट् लकार के मध्यम पुरुष के अधिकतर रूप और प्रथम पुरुष के कुछ रूप उपदेश और प्रार्थना आदि के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। जैसे – हनो वृत्रं जया अपः। अर्थात् – वृत्र को मारो और जलों को जीतो। यहाँ हनो और जया दोनों ही रूप मध्यम पुरुष के हैं। प्रार्थना के रूप में – स देवाँ एह वक्षति। वह (अग्नि) देवताओं को यहाँ लाए। यहाँ वक्षति प्रथम पु० का रूप है।

(ख) इच्छा की अभिव्यक्ति में लेट् लकार

वैदिक भाषा में कुछ स्थानों पर लेट् लकार का प्रयोग इच्छा की अभिव्यक्ति के अर्थ में भी मिलता है। जैसे- 'अग्निना रयिमश्नवत्'। अर्थात् – वह अग्नि के द्वारा धन को प्राप्त करे। यहाँ 'अश्नवत्' लेट् लकार का रूप है, जिसका प्रयोग इच्छा प्रकट करने के लिए किया गया है।

लेट् लकार की एक अन्य विशेषता है, उसके रूपों की विविधता। लेट् लकार में पाणिनि के अनुसार 'सिप्' आगम सिप् को णित्वद्भाव परस्मैपद में इकार का लोप आदि सभी कार्य विकल्प से होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि लेट् लकार का प्रयोग वैदिक भाषा की एक ऐसी विशेषता है, जो उसे लौकिक संस्कृत से भिन्न स्वरूप प्रदान करती है।

(ग) विधिमूलक लकार

सामान्य भाषा में लुङ्, लङ् और लृट् लकार का प्रयोग भूतकाल में होनेवाली क्रिया की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है, परन्तु वैदिक भाषा में इनका प्रयोग काल सामान्य में अर्थात् भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान किसी भी काल में किया जा सकता है। लुङ्, लङ् लकारों में अट् और आट् आगम सामान्य रूप में होता है। निषेधार्थक 'मा' अव्यय का योग होने पर इन लकारों के अट् और आट् आगम रहित रूप प्राप्त होते हैं।

वैदिक भाषा की विशेषता यह भी है कि मा निषेधार्थक अव्यय के योग होने पर तथा बिना उसके योग के भी लुङ् और लङ् लकारों के अट् और आट् आगम रहित रूप भी वहाँ प्राप्त होते हैं। इन्हीं अट् और आट् आगम रहित रूपों को विधिमूलक लकारों के नाम से जाना जाता है। अर्थ की दृष्टि से विधिमूलक लकारों का प्रयोग तीन रूपों में दिखाई देता है-

(A) भविष्यत् अर्थ में विधिमूलक लकार

वैदिक संहिताओं में कुछ स्थानों पर विधिमूलक का प्रयोग लेट् लकार के समान भविष्यत् अर्थ में मिलता है।

यथा- इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचाम्।

अर्थात् - मैं इन्द्र की वीरताओं का वर्णन करूँगा।
यहाँ वोचम् पद अट् आगम रहित लङ् लकार का रूप है, तथा इसका प्रयोग भविष्यत् कालिक क्रिया को बताने के लिए हुआ है।

(B) प्रार्थना तथा उपदेश आदि अर्थों में विधिमूलक लकार

वैदिक भाषा में विधिमूलक लकारों का अधिकतर प्रयोग विधिलिङ् के समान प्रार्थना और उपदेशादि अर्थों में मिलता है। जैसे - इमा हव्या जुषन्त नः।

अर्थात्, वे हमारी इन आहुतियों का सेवन करें। यहाँ जुषन्त: पद विधिमूलक लकार का है, जिसके द्वारा 'वे सेवन करें' ~~[illegible]~~ ऐसी प्रार्थना की गई है।

'मा' अव्यय के साथ 'वृणक्' मूलक का प्रयोग भी संहिताओं में प्राप्त होता है। यथा - मा न इन्द्र परा वृणक्। अर्थात् - हे इन्द्र हमारा परित्याग मत करो। यहाँ 'मा' के साथ 'वृणक' विधिमूलक का प्रयोग 'परित्याग मत करो' ऐसी प्रार्थना के लिए किया गया है।

(C) इच्छा की अभिव्यक्ति में विधिमूलक लकार

वैदिक भाषा में कहीं-2 इच्छा की अभिव्यक्ति के लिए भी विधिमूलक का प्रयोग प्राप्त होता है। यथा - अग्निं हिन्वन्तु नो धिय: सप्तिमाशुमिवाजिषु तेन जेष्म धनं धनम्।

अर्थात् - युद्धों में तेज घोड़े की भाँति अग्नि को हमारी स्तुतियाँ प्रेरित करें जिससे हम धनों को जीतें। यहाँ जेष्म पद विधिमूलक लकार का है, जिसके द्वारा इच्छा की अभिव्यक्ति की गई है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि वैदिक भाषा का जो उदात्त स्वरूप सुबन्त और कृदन्त में प्राप्त होता है, वैसी ही विविधता विधिमूलक लकारों में प्राप्त होती है।